जौहर

विश्व महिला साहित्य

विद्या मन्दिर लिमिटेड

विश्व-महिला-साहित्य : सं० २

जौहर

सुधा

विद्या मन्दिर लिमिटेड

नई दिल्ली

रचयिता

प्रो. सुधीन्द्र, एम्. ए., साहित्यरत्न

['शंखनाद', 'मेरे गीत,' 'प्रलयवीणा' 'अमृतलेखा' आदि के लेखक]

891.431
S94 J
11536

रचित : सन् १९३५-३६

प्रकाशित : सन् १९४३

1943

प्रथम संस्करण : सं. २००० वि.

द्वितीय संस्करण : सं. २००२ वि.

सर्वाधिकार सुरक्षित

(CopyRight)

प्रकाशक

विद्या मन्दिर लिमिटेड,

नई दिल्ली

मुद्रक

गोंडल्स प्रेस,

नई दिल्ली

राजस्थान की जीवन--ज्योति

वनस्थली

वि

द्या

पी

ठ

की

वीरबालाओं

को

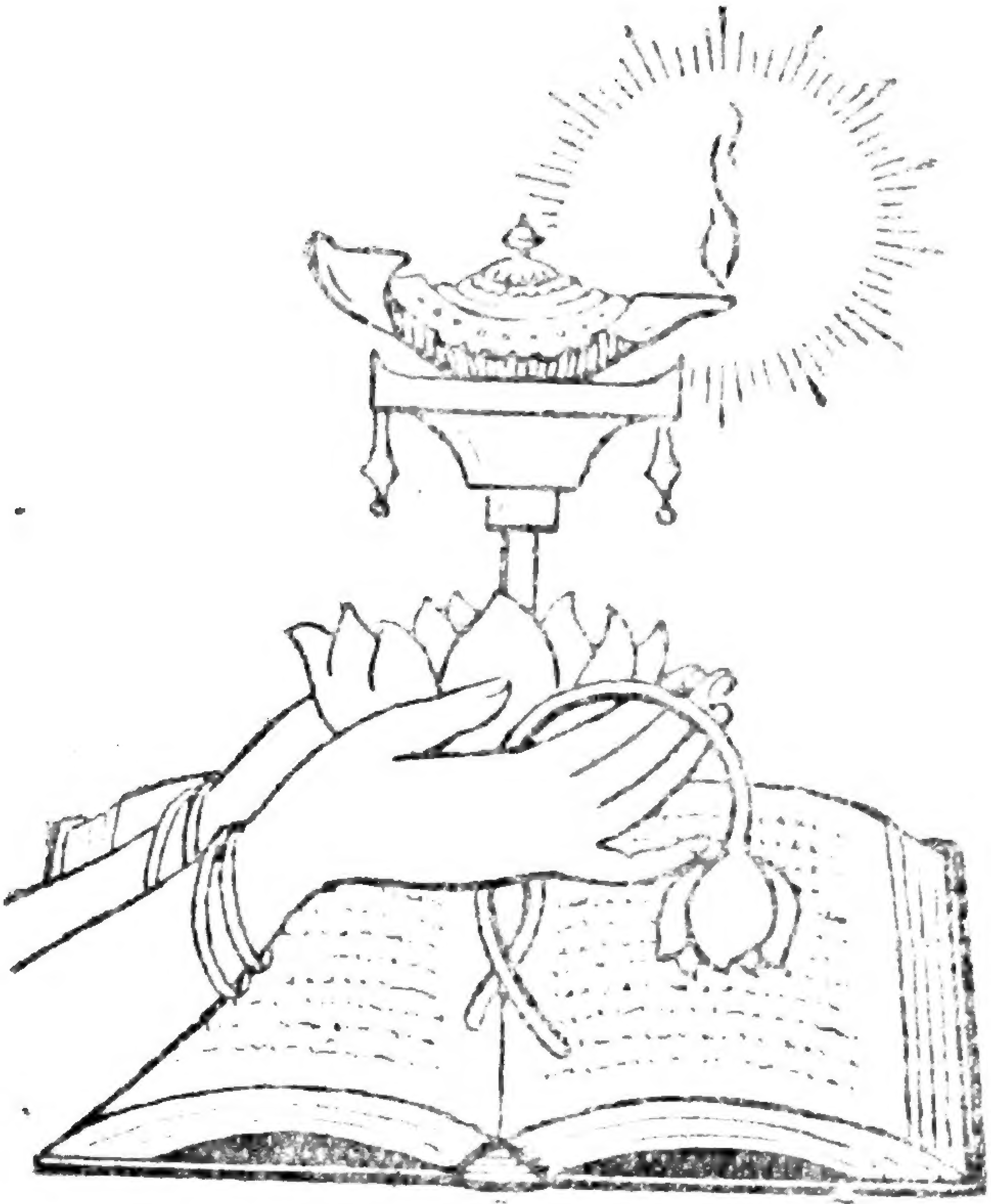

निवेदन

'जौहर' मेरी सर्वप्रथम प्रकाशित कृति 'शङ्खनाद' की समकालीन रचना है। 'प्रलय-पुस्तक-माला' द्वारा 'शंखनाद' के पीछे ही वह प्रकाशित होने वाली थी भी; किन्तु आज (पूरे ६ वर्ष बाद!) प्रकाशित हो रही है।

'जौहर' की कथा भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। इसे देश का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि आज देशवासी अपने इतिहास तक को प्रस्तुत करने में झिझकते हैं। महात्मा गांधी ने जब भूषण की 'शिवाबावनी' को भारत के राष्ट्रीय वातावरण में हिंसा का विष फैलाने वाली कृति घोषित करके उसे विद्यालयों के पाठ्यक्रमों से निर्वासित करा दिया, तब से अनेक क्षेत्रों में उसकी गूँज फैली और उसी का प्रभाव था कि जब 'जौहर' के प्रकाशन की बात श्रद्धेय पंडित हरिभाऊजी उपाध्याय से छिड़ी तो उन्होंने इसके प्रकाशन को युगविरोधी और असमीचीन बताया। उन्हें लगा कि इसके प्रकाशन से भारतीय अहिंसा को, राष्ट्रीय आत्मा को आघात पहुँचेगा। उनके मत से अहिंसा में 'जौहर' में वर्णित युद्ध को कोई स्थान न था।

मेरी आत्मा, किन्तु, इस विचार से विद्रोह करती रही, अन्यथा आज यह कृति पाठकों के हाथों में न होकर दीमकों का भोज्य बन चुकी होती। 'जौहर' का लेखक 'जौहर' को हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य का अस्वस्थ वातावरण बनानेवाला नहीं, वरन शुद्ध स्वदेश-प्रेम, स्वाभिमान, जीवन, जागृति,

बल, बलिदान और मानव-प्रेम की अहिंसक भावना का पोषक मानता आया है। जिस दिन उसे यह विश्वास हो जायेगा कि 'जौहर' राष्ट्रीयता की भावना का घातक है, उस दिन उसे 'जौहर' के पन्नों को आग में झोंक देने में ही शांति मिलेगी।

ऐतिहासिक आधार-भूमि पर मैंने जौहर का एक रूपक प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इतिहास के तथ्यों (facts) को ओझल करने में असमर्थ होने के कारण मुझे यद्यपि हिन्दू-मुसलिम संघर्ष को लेकर चलना पड़ा, किन्तु यह कौन नहीं जानता कि भारत-सम्राट् अलाउद्दीन खिलजी और मेवाड़-नरेश राणा रत्नसिंह का वह युद्ध मुसलिम-हिन्दू संघर्ष नहीं था? क्या सम्राट् की सेना सब मुसलमान थी? क्या उसमें हिन्दू न थे? एक दुर्जय राज्य-लिप्सा और अदम्य विलास-लालसा इस विग्रह के मूल में थी। फिर मेरे निकट तो हिंदू-मुसलिम संघर्ष का वही अर्थ है जो हिन्दू-हिन्दू या मुसलिम-मुसलिम संघर्ष का हो सकता है। मेरे लिए तो अलाउद्दीन-रत्नसिंह का यह संघर्ष कौरव-पाण्डवों के 'महाभारत' से कम न था।

हमें संघर्ष के अंतरंग में जाना है। युद्ध मानव का सनातन कर्म रहा है, शाश्वत धर्म हम चाहे न कहें। मानव और दानव (या पाशव) वृत्तियों के निरन्तर संघर्ष, अन्त-र्द्वन्द्व से ही जीवन की सत्ता है। सत् और असत्, धर्म और अधर्म, न्याय और अन्याय का संघर्ष शाश्वत है। कथा पर आने के पूर्व मैंने अपने हृदय को खोल भी दिया है।

और अहिंसा ? जब युद्ध हमारे जीवन में पदे-पदे है, तो हमारी अहिंसा को भी तो युद्ध से लड़ना होगा। युद्ध में ही हममें सच्ची अहिंसा फूट निकलेगी। उससे मुख मोड़कर तो वह जी नहीं सकती। पाठक कह सकते हैं कि तत्त्वज्ञान में न जाओ। सीधे व्यवहार की बात करो। जो (हिंदू-मुसलमान का) युद्ध तुमने बतलाया है वह क्या अहिंसा का पोषण करता है ? मैं उत्तर में पूछ सकता हूँ कि यदि आज अहिंसक (यद्यपि 'अहिंसक' वह है कहाँ ?) भारत पर विजातीय या विदेशीय आक्रमण हो (और आज की परिस्थिति में तो वह किसी भी क्षण हो सकता है), तो क्या वह युद्ध से दूर भागेगा ? दूर भागने का अर्थ होगा — आत्म-समर्पण, मृत्यु ! उसे अहिंसक होकर भी युद्ध से युद्ध करना चाहिए। युद्ध से— संघर्ष से ही जीवन विकास की ओर अग्रसर होगा।

इतने बल पर भी मैं 'जौहर' को प्रकाशित न होने देता यदि आज की ज्वलन्त परिस्थितियाँ मुझे इस दिशा में प्रेरित न करतीं। मुझे तो आज भी लग रहा है कि ठीक वैसी ही परिस्थितियाँ आज हमारे चारों ओर हैं जो उस समय मेवाड़ पर घिरी थीं; अन्तर यही है कि मेवाड़ आज भारतव्यापी है और हिन्दू-मुसलमान (अन्य धर्मियों के साथ) आज एक ही देश के अभिन्न अंग हैं। और 'हम अपने सामान्य शत्रु (common foe) के आक्रमण का प्रतिरोध कैसे करें ?' यह प्रश्न-चिन्ह भी आज हमारे जीवनक्रम में लगा है और भविष्य में भी रहनेवाला है। यह तो एक शाश्वत

प्रश्न है, जिसका उत्तर इतिहास हमसे मांगता आया है, मांग रहा है और मांगता रहेगा। उसका उत्तर तो हमें चरितार्थ करना है। वह उत्तर मुझे 'जौहर' ने दिया है और इसीलिए मुझे विश्वास है कि युगदर्शी और युग-युगदर्शी पाठक 'जौहर' से निराश न होंगे।

भारतीय नारी के उस अनुपम उत्सर्ग –जौहर– को आज दिखाने की आवश्यकता का भी क्या मुझे स्पष्टीकरण देना होगा? मैं मानता हूं कि 'जौहर' की प्रथा भारतीय नारी के अपने शील को अकुण्ठित बनाये रखने की एक अपूर्व साधना थी। युगभावना के अनुरूप ढलनेवाली सामाजिक नीति में आज 'जौहर' चाहे स्वप्न ही हो, पर जौहर में अन्तर्भूत भावना का महत्त्व तो अक्षुण्ण है। वह न रहे तो नारी का नारी-धर्म न रहे।

प्रस्तुत कृति में वातावरण-सृष्टि के लिए मुझे कुछ ऐसे प्रसंगों का चित्रण भी करना पड़ा है जो 'ग्राम्य' कहे जा सकते हैं, परन्तु उनको हटाकर मैं जौहर के उज्ज्वल भावपक्ष को प्रस्तुत नहीं कर सकता था। इसलिए मुझे इसका पश्चात्ताप नहीं है।

इतिहास इतिहास है और काव्य काव्य। 'जौहर' में केवल इतिहास के तथ्यों को दुहराना मेरा उद्देश्य नहीं रहा पर उसके बिना काम भी नहीं चल सकता था। मेरी कल्पना ने केवल आक्रमणकारी को सन्तुष्ट करने के लिए ही पद्मिनी की छाया को दर्पण में दिखाया जाना अंगीकृत नहीं किया। यह तो एक विजयी वीर की बुरी हार है। वह ऐति-

हासिक तथ्य हो तो भी इसके लिए मुझे किसी से क्षमा नहीं माँगनी है, क्योंकि 'जौहर' इतिहास नहीं, एक भावना, एक आदर्श, एक रूपक है।

वनस्थली विद्यापीठ,
आषाढ़-पूर्णिमा, २००० } सुधीन्द्र

दूसरे संस्करण की भूमिका

'जौहर' के इस नवीन संस्करण में लेखक ने एकाध स्थलों पर अपनी लेखिनी फिर से चलाई है और शब्द-परिवर्तनमात्र हुआ है।

वनस्थली
रामनवमी, २००२ वि० } सुधीन्द्र

अनुक्रम

(स्व)	प्रथम ज्वाला	(बीज)	१
(श्र)	द्वितीय ज्वाला	(संघर्ष)	३५
(भि)	तृतीय ज्वाला	(संधि)	६७
(मा)	चतुर्थ ज्वाला	(दर्शन)	९०
(नि)	पंचम ज्वाला	(प्रत्यावर्तन)	१२४
(नी)	षष्ठ ज्वाला	(उत्सर्ग)	१५४

प्रथम ज्वाला

बीज

स्वतन्त्रते ! लो आज विराजो
    कवि की वाणी पर आओ !
कल्याणी वाणी ! वीणा में
    कला-कलित स्वर भर गाओ !
मेरे कवि ! तुम स्वाभिमानमय
    भाव-भरा अन्तर लाओ !
लेखिनि ! अपनी अमर मसी ले
    अमर कथा लिखती जाओ !

हैं प्रातःस्मरणीय हमारे
वन्दनीय भारतवासी,
जिनकी गाथाएं भूतल पर
गीत हुई हैं कविता-सी !
ज्योतिर्मय भारत की छवियाँ
रहीं सदा गौरवलेखा !
उनका चित्र न आँक सकेगी
जन्म-जन्म तक मसि-रेखा।

मर-मरकर भी अमर बने जो
हैं प्रणम्य वे वीर व्रती ;
वीरांगना वन्दनीया हैं
वे पातिव्रतपरा सती ।
अपनी निपट विवशता पर अब,
हम जब-जब अपमान सहें,
उनका पुण्य-स्मरण कर करते
प्राणों का उत्थान रहें।

और कथा जयचन्द ! तुम्हारी
सदा हमारी कुमति हरे।
अब भी तुम जैसे जन हों तो
कुगति हृदय में सुमति भरे।
परवशता के बिरवे की जड़
यहाँ तुम्हारे हाथ जमी;
अस्त हुआ रवि 'रायपिथौरा',
घिर आयी दुर्भाग्य-तमी !

अपने ही शोणित से तुमने
जो बिरवा सींचा-पाला,
उसके कटु फल ने भारत को
विनत-विमूर्च्छित कर डाला !
वह पृथ्वी-रवि अस्त हुआ तो,
इधर हुई परवशता-रात !
युग-युग बीते, किन्तु यहाँ फिर
हुआ नहीं वह पुण्य-प्रभात !!

पृथ्वीराज ! उधर तुम पहुँचे,
पाश इधर बढ़-चढ़ आया !
तुम तो उधर बंधे पाशों में,
शाप इधर शिर पर छाया !!
तुम निर्वन्ध बंधे बन्धन में,
बन्ध हमें छलने आया !
बुझते ही आलोक नयन का
छायी यह छलना छाया ।

युग पलटा, परिवर्तन छाया,
भू ने नव शासन पाया !
फिर स्वराज-भोगी भारत के
शिर पर दुःशासन छाया ;
जिसने कहीं अनय बरसाया,
विकट कहीं संकट ढाया ।
कहीं अनर्गल छल-कौशल की
फैलायी अपनी माया ।

जौहर

नर के प्रति क्या प्रीति कभी थी
रही न अन्तर में नर के ?
तो फिर क्यों भाई-भाई में
कांड हुए ये संगर के ?
द्वेषानल न 'महाभारत' था
कोई भाई-भाई का ;
वह तो था संघर्ष बुराई
से अनिवार्य भलाई का ।

मानव--मानव का विरोध यदि,
तो कब दोनों हैं मानव ?
है संगर-संघर्ष तभी जब
यह मानव हो, वह दानव !
मानव-मानव तो मिल-जुलकर
ला देते भू पर सुरपुर ।
हो जाता शाश्वत-सुख-सिंचित
यह भव--जीवन क्षणभंगुर !!

पापों की भीषण ज्वाला तो
एक असत् की चिनगारी,
जिसमें बन जाता है ईंधन
विपुल सबल जनदल भारी !
फिर नरमेध-यज्ञ से बचकर
है मानव की मुक्ति कहाँ !
इससे बचने की ही जीवन
खोज रहा है युक्ति यहाँ !

होता पाप न; तो न पुण्य की
यहां महत्ता रह जाती ;
सुकृत-साधना के जीवन की
गौरव-गरिमा ढह जाती ।
इसी धर्म की होती आयी
युग-युग से गाथा गीता ;
वही परम ज्ञानी है जग में
जो यह ज्ञान-सुधा पीता ।

भले-बुरे का संघर्षण यह
निहित हमारे जीवन में;
इसीलिए मानव सत के हित
संतत रत रहता रण में।
यह सत-असत-युद्ध तो रथ है
इस जग के जीवन-पथ का;
छोटा-सा इतिहास यही तो
फैला है इति तक अथ का।

पाप-पुण्य का यह संगर ही
मन में है मोहन लीला;
संसृति की भीषणता में है
वृत्ति यही अन्त:शीला।
बुरा बुरा है, भला नहीं वह
भले हमारा हो भाई;
एक बुराई ही तो जग में
शत्रु परम बनकर आई!

पाप-पुण्य के संघर्षण में
होता सत्पथ का शोधन ;
पीड़ा के शत-शत प्रहार से
होता मन का उद्बोधन ।
नर की नहीं वन्दना है यह,
है सत का यह अभिनन्दन ;
नर की नहीं भर्त्सना है यह,
असत् मात्र का उन्मूलन ।

संसृति के नाते जन-जन में
हैं अगणित मधुमय बन्धन !
इसीलिए धरणी पर प्राणी
हैं अभिन्न बांधव-परिजन !
एक रक्त करता तन-तन की
शिरा-धमनियों में स्पन्दन ।
भाव-समन्वय ही मन-मन की
लहरों में करता क्रीड़न ।

एक धरा पर, एक गगन-तल,
एक-प्राण हैं सब मानव;
एक ज्योति से आलोकित है
एक अनिल-जलमय यह भव।
क्यों विरोध अविरत यह फिर भी,
यह विप्लव, यह संघर्षण ?
इसी क्रान्ति को भेद शान्ति है
पाता यह मानव-जीवन !

है स्वदेश प्यारा घर अपना
आँगन देश बिराना है !
विश्व-प्रेम का मन्त्र मधुर यह
मनीषियों ने माना है !!
पर पड़ मद-मत्सर-मोहों में
जन एकात्म-भाव भूला;
शूल बन गया ये विष पीकर
फूल कि जो मन में फूला !

धर्म-राज्य-प्रभुता का लोभी
जन-मन कितना बर्बर बन,
करता पुण्य समझ निज सुख का
जन के शोणित से सिंचन !
शुद्ध-बुद्ध आत्मा न मोह में
होती विकृत-विरूप कहीं,
तो स्वर्गिक वसुन्धरा बनती
महानरक का कूप नहीं !

कलम, न तू रो, खो न नयन-जल
कहनी ही है व्यथा-कथा ;
अक्षर-रथा हुई तो पथ में
हो न अभी से शोक-श्लथा !
धर्म-मर्म को भुला कर्म जब
आ अन्तर में पाप भरे—
खिलजी क्यों न पितृव्य-लहू से
अपना ही अभिषेक करे ?

जौहर

इधर अलाउद्दीन अकंटक
दिल्ली का सुलतान बना,
दमन और उत्पीड़न उसको
बने केलि-कौतुक अपना।
भारत के जिन-जिन राज्यों पर
होता था खिलजी विजयी,
छीन-छीन लेता था उनसे
वह सम्पत्ति सुवर्णमयी।

विदित किसे है नहीं भला वह
भारत-भू की ढाल महान,
शौर्य्य-वीर्य का अविरल निर्झर
पुण्य-तीर्थ वह राजस्थान!
था चित्तौड़-दुर्ग-सा उसका
दुर्विजेय विजयोन्नत भाल;
झुका नहीं वह कभी देह पर
पाकर भी प्रहार विकराल!

समरानल से जिसने उर की
जलती ज्वाला ठंडी की !
रही युगों जो शोणित-स्नाता
रंगभूमि रणचण्डी की !!
जब-जब पुण्य मरण-पीड़ित हो
बना शरण का याचक दीन,
अभय-दान का दानी बन वह
तब-तब हुआ समर में लीन !

स्वतन्त्रता पौरुष-प्रेया का
था बस यही सुखद अभिवास;
मंच मनोज्ञ निसर्ग-नटी का
मानों उसने चुना निवास ।
सर्वनाश के जल-प्लावन में
कर्णधार था वह केवल
लक्ष-लक्ष तलवारें जिसकी
बनती थीं पतवार सबल !!

जौहर

हम सब भी मिल उसी तीर्थ का
दर्शन कर लें आज यहाँ !
तन-मन हों कृतकृत्य पुण्य से
लोचन भर लें आज यहाँ !!
देख उसे मन के नयनों से
जीवन-तन-मन प्राण जगें !
गान जगें जीवन-जाग्रति के,
जन में बल-बलिदान जगें !!

यह है आड़ावला अचल-सा
इसका सजग-सबल प्रहरी,
जिसकी सुख-छाया में रह-रह
सह पाया यह दोपहरी !
वह नीचे हल्दीघाटी है
वसुधा-विश्रुत रणस्थली !
जहाँ शूरवीरों के रण से
रक्त-नदी थी उमड़ चली !!

बलि चढ़ गये मातृ-चरणों पर
        यहीं यहीं अगणित प्राणी !
काश कि हम सुन सकते इन सब
        मूक शिलाओं की वाणी !!
न्योछावर जिसके चरणों में
        शत-शत शूर हुए बाँके,
उसी रत्न-गर्भा भू का क्या
        जड़ लेखिनी मूल्य आँके ?

सँभल-सँभल कर पलकों के पग
        धरिए इसमें दर्शकवृन्द !
दलित न हो पायें मानव के
        लोहू के वे बिन्दु अमन्द !
चमक रहे सम्मुख रजकण वे
        लेकर रण का लास-विलास !
ये वे कीर्ति-स्तम्भ हैं जिनपर
        लिखा पुण्य-जय का इतिहास !!

जौहर

यहीं-यहीं है समर-परायण
वीरभूमि चित्तौर यहीं !
बार-बार सम्भूत हुए हैं
शूरों के शिरमौर यहीं !!
शिरमौरों का रत्न यहीं पर
था जगमग बाप्पा रावल !
आज उसी की ज्योति-किरण हैं
ये क्षत्रिय यश से उज्ज्वल !!

रहा जिन्हें निज देश सदा प्रिय,
सकल सुखों का अविरल स्रोत !
समर-सिन्धु में असि-वल्ली ले
खेते थे वे जीवन-पोत !
प्रेय जिन्हें स्वाधीन मरण था,
हेय परुष परवशता-पाश ;
श्रेय रहा इस भंगुर भव में
यश-वैभव अक्षर-अविनाश !

न्यौछावर करते थे सुख से
वे जननी के दुर्लभ धन
स्वाभिमान की दीपशिखा पर
मुग्ध शलभ बन-बन जीवन।
महामहिम अमृतजीवी थे
क्षात्रधर्म के धीर व्रती।
गौरव–गरिमामयी मधुरिमा
थी घर-घर में वीर सती।

एक अमरता पाना ही थी
तन-मन-जीवन की चिरसाध,
उनके जीवन की गति थी बस
पुण्यार्जन की ओर अबाध।
स्वयम् स्वर्ग का भी शासन क्या
दे सकता था बढ़कर मोद,
जब रहने को उन्हें मिली थी
स्वतन्त्रता की सुखमय गोद।

गुरु-गौरव गिरि की मालाएँ
पहने वह पावन भू-भाग
गाता था विहगों के स्वर में
स्वाभिमान के रंजन राग।
करता हो कल केलि जहाँ पर
प्रकृति–परी का कला-कलाप,
आ बसते हैं वसुधा भर के
वहाँ विभव भी अपने आप।

है स्वतन्त्र कण-कण के आगे
स्वर्ण-महल नीरस-निस्सार!
स्वतन्त्रता के चरण-वरण पर
अमरण स्वर्गिक सुख बलिहार!!
चारों ओर करुण गायन था,
यहाँ छिड़ा था मंगल गीत!
गुंजित होता था कानों में
भारत का वह स्वर्ण अतीत!!

आज दृगों में उस अतीत का
यदि ज्योतिर्मय चित्र खिंचे,
तो उसके तिग्मांशु–तेज से
अन्धकार की आँख मिंचे।
कहीं-कहीं पर चमक रही थी
उसी ज्योति की किरण बची,
सुरपुर-सा मेवाड़-महल था,
रत्न–पद्मिनी इन्द्र–शची!

शूर-शिरोमणि रत्नसिंह हो
जिसका रक्षक सेनानी,
वीरांगना पद्मिनी–सी हो
जिस सेनानी की रानी,
शौर्य और सुन्दरता ने हो
जिनसे निज अविजय मानी,
क्यों न बने वह विजय-विभूषित,
गौरव-गुणी, स्वाभिमानी ?

जौहर

यही पद्मिनी है वह जिसका
सौरभ था भू पर छाया,
जिसके लिए जायसी ने था
अपना 'पद्मावत' गाया,
वह वागीश रहस्यभाव का
प्रेम-पुजारी वह कविवर
गाकर जिसकी अमर कथा को
कवि-जग में हो गया अमर !

अंग-अंग पल्लव-प्रसून से
थी प्रफुल्ल पल्लवित लता,
वर्णों में तो बँध न सकेगी
उसकी अनुपम सुन्दरता :
कुंतल में थी मोह निशा-सी,
मुखरित वाणी में वीणा
गति में थी कविता अवतरिता,
रति भी थी जिससे दीना।

सुन्दरता तो स्वयम् लगेगी
उसकी ज्योतित छाया-सी !
मधुता, मंजुलता, कोमलता
थीं काया की माया-सी !
रूप–गंध-रस देख गिरा को
केवल यह उपमान मिला—
वसुधा के उपवन में मानों
पारिजात का सुमन खिला !

यह लावण्य अमृत है कैसा
मानव जिसका मधु चखकर
तिक्त हलाहल तक पीने को
हो जाता आतुर सत्वर !
यह वह हाला है जिसको मन
पी-पीकर न अघाता है !
उतना ही प्यासा रहता है
जितना पीता जाता है !!

यह वह शमा कि जलते जिसमें
परवाने तो आ-आकर,
किन्तु आप भी बुझ जाती जो
एक क्षणिक लौ चमकाकर!
पीड़ा मधुर पाल लेते हैं
जगती के दृग देख जिसे!
अपना पाश आप ही रचने
लगता है जग देख जिसे!!

कालकूट है! इसको पद्मिनी,
तुमने तन में क्यों पाला?
कहीं जला दे तुम्हें न बढ़कर
इसकी विध्वंसक ज्वाला!
जीवन का वरदान न सुन्दरि,
रूप पाप का है सपना!
इसे वासना की लपटों में
पड़ता है प्रतिपल तपना!

दिशा-दिशा में जो उसका था
माया—सा सौरभ छाया,
आकुल खिलजी के भी उर के
वातायन में घुस आया।
छवि-चिन्तन कर विकल हो गया
आह, शाह का प्राणप्रदेश,
'वह अनन्य सुन्दरी !' वेदना
कह उर में कर गयी प्रवेश।

उसे शाह खिलजी ने अपने
ईर्षा के कर से पाला !
जीवन के सुखमय निमिषों को
चिन्ता-चलित बना डाला !
उर पर अविचल अचल-भार-सा
सुख—विलास का चाव हुआ,
क्षण-क्षण पर दुर्भर अब उसको
उसका दुखद अभाव हुआ।

विटप बना धीरे-धीरे वह
    क्षुद्र वासना का अंकुर।
और हो उठा अन्तर अब तो
    उसके दर्शन को आतुर।
समा गयी फिर मूर्ति मधुर वह
    उसकी पलकों के स्तर में
धधक उठी वह चिंता उसकी
    भभक चिता-सी अन्तर में।

एक पद्मिनी की छवि ही बस
    अब उसकी संगिनी बनी।
वही सुखद सपनों से निशि-दिन
    मन की अनुरंजिनी बनी
भूल न सका पद्मिनी को वह
    होकर भी मधु-मतवाला,
पा नव-नव सुरमणि सुन्दरियाँ
    पी-पी स्वर्ण सुरा-प्याला।

करने लगा निरन्तर गुंजन
अन्तर उस छवि का भर ध्यान—
"होगी या तो प्राण पद्मिनी,
या न रहेंगे पामर प्राण!
दुखदा है यह स्वर्ण-सम्पदा,
निर्जन यह जनवान् मही!
दे सकती है खिलजी को बस,
जीने का वरदान वही!!

कैसी है वह रूप-मधुरिमा,
स्मितमय मंजु मनोज्ञ वदन!
कला-कलित लय-सी काया वह,
वह मायामय आकर्षण!
जिसका चिन्तन ही मधुमय है,
छवि वह सुधा-मधुर होगी!
होकर भी सुलतान न उसका
आह, हुआ मैं रस-भोगी!!

कैसे होंगे मधुर अधर वे
राग भरे मंजुल लोचन !
सुधा-हलाहल-सुरा भरी-सी
लीलामय चंचल चितवन।
अलकों का कम्पन नर्तन-सा
अङ्गों की गति मधु-वादन।
उसकी वाणी का स्वर होगा
मोहन--मनरञ्जन गायन।

कब प्रणयाप्लावित हूँगा मैं
मधु स्वर-धारा में बह-बह !
कब होगी रसमय यह रसना
उसे 'प्रिये ! प्रेयसि !' कह कह !
मुग्ध हुआ पद्मिनी-सुरभि पर
कबसे यह मन का मधुकर।
या परवरदिगार ! कब होगा
अब मधु से सिंचित अन्तर ?

उस श्री के अभाव में इतना
बड़ा राज निर्धन मेरा !
युग-युग-सा दुर्भर लगता है
जीवन का क्षण-क्षण मेरा !
उसके बिना बना वसुधा का
वैभव सूखा-सूखा सा,
और सल्तनत का सुख सारा
लगता रूखा-रूखा सा।

उस सौंदर्य-सुधा से ऊना
सूना-सा साम्राज्य बड़ा !
उस पल्लविनी बिना हृदय का
यह मेरा उपवन उजड़ा !
कैसे लहरा उठे लहलहा
कुंज-निकुंज शोक-संकुल ?
नहीं यहाँ मधुवर्षी कोयल,
नहीं चहकती वह बुलबुल !"

जौहर

प्रखर शूल वन-वन पल-पल पर
चुभता था निज राज उसे।
लक्ष्य, ध्येय, आराध्य बनी थी
एक प्रणयिनी आज उसे।
सुख-वैभव के साधन सारे
खलते थे दिन-दिन दूने।
शान और शौकत के सारे
कारबार थे सुख-सूने!

खिंचती जाती थी ज्यों-ज्यों वह
मनोमोहिनी छवि मन पर,
खिलजी के उर की वह ज्वाला
धधक रही थी धू-धू कर।
घुस जाता आकर जीवन में
चिन्ता का अणुकण जिस क्षण,
उस क्षण आ जन के नयनों में
छाते जीवन और मरण!

भूला खान-पान तक भूला,
भूल गया सुलतान नमाज़ !
अरे, हरम भी जान न पाया
उसके भीतर का वह राज़ !!
शक्तिमान, समृद्ध, सुखी यों
शाहंशाह अलाउद्दीन
एक पद्मिनी बिना बना था
मन में निर्बल, दीन, मलीन !

चपल लघु पलों के पग धर-धर
चले जा रहे थे दिन-मास ;
बढ़ती जाती थी पल-प्रति-पल,
ख़िलजी की आँखों की प्यास ।
नयी-नयी आशायें ले-ले
आता-जाता था प्रति प्रात
इस चिन्ता में बीत चले वे
ख़िलजी के युग-से दिन-रात—

जौहर

"होगी कभी खुदा, क्या मेरी
इस चिन्ता से मुक्ति नहीं ?
और पद्मिनी को पाने की
क्या न मिलेगी युक्ति कहीं ?
रे, वैभव पाने को मैंने
देश-प्रदेश कई जीते ;
दे न सके सन्तोष मुझे वे,
मेरे लिए रहे रीते।

वैभव का मध्याह्न बना यह
घोर दीनता की रजनी !
वह कोमल पंखड़ी सुमन की
मेरे लिए स्फुलिंग बनी !!
या अल्लाह, खिलेगी किस पल
यहाँ पद्मिनी रसभीनी,
जिसके छवि-चिंतन ने मेरी
भूख—प्यास-निद्रा छीनी !

अद्‌भुत गति मेरी है कोई
सहज इसे माने माया;
जिधर देखता हूँ घेरे है
मुझे पद्मिनी की छाया!
यह विशाल सल्तनत मुझे है
शूलों की जैसे शैया,
उस माँझी के बिना भंवर में
डगमग है जीवन-नैया।

जिसके मुख की झलक देखकर
हो संसार मुग्ध मधुकर,
मुझे तिरस्कृत करे पद्मिनी
वह चम्पक-वल्ली बनकर?
जब पद्मिनी मिली न मुझे तो
क्यों विस्तृत साम्राज्य मिला?
अङ्कशायिनी मिली न तो क्यों
व्यर्थ रङ्क यह राज्य मिला?

जौहर

आये सुख-वैभव मेरे सब
किसने आज विदीर्ण किये ?
रे, किसने आकर ये मेरे
पथ में शूल विकीर्ण किये ?
जिसकी ललित लालसाओं को
जग, मनुहार करे, पाले
ऐसे सुखी शाह के जी को
यह कण्टक भी क्यों साले ?

आज पराजित हूं मैं उससे
देश-देश का विजयी वीर !"
सोच-सोच दुर्बलता अपनी
शहंशाह हो उठा अधीर।
"स्वतन्त्रता की छाया—नीचे
सुख से सोता है चित्तौर !
कर मेरा उपहास अरे क्यों
काँटे बोता है चित्तौर ?

मेरी चतुरंगिणी चमू, तो
पथ के ये कंटक कुचले
तो फिर मेरी विजय-नदी वह
आज रुकी क्यों, उमड़ चले!
उन्नत शिर चित्तौर! झुका दूं
तेरा दल-बल से रह रे,
फिर पद्मिनी-महल पर मेरी
विजय–वैजयन्ती फहरे।"

किन्तु श्रवणपुट में रह-रहकर
कहता था उसका अन्तर—
'केवल एक राह है उसको
पाने की वह है संगर!
जिसे पार करना है वह है
शोणित की सरिता गहरी
अड़ा खड़ा है वक्ष बढ़ाये
आड़ावला प्रबल प्रहरी।

सुलभ नहीं है शाह, पद्मिनी
क्षत्रिय वीरों की रानी !
उसके लिए प्रखर धाराओं
का चखना होगा पानी।
मोल नहीं ले सकती खिलजी,
यह सल्तनत अतोल उसे !
अपना गौरव-गर्व बेचकर
लेना है क्या मोल उसे ?'

कानों में उसके आती थी
रह-रहकर यह सधी सदा * —
'रहती है क्षत्रिय की लक्ष्मी
आन-मान से बँधी सदा !'
किन्तु निराशा में आशा भर
कह-कह उठता था सुलतान—
''होगी या तो प्राण पद्मिनी,
या न रहेंगे पामर प्राण !'

* ध्वनि

ओ गर्वीले रत्न 'रतनसी'!
पा रानी पद्मिनी-समान,
सुख से सोता देख तुम्हें क्या
सुख से सो सकता सुलतान?
जिसके बिना सल्तनत भी पा
मिल न सका मुझको आराम,
पाऊँ जब तक नहीं उसे मैं,
हो मेरी यह नींद हराम!"

—६७ छन्द—

द्वितीय ज्वाला

संघर्ष

अरुण उषा की तरुण किरण का
　　चरण इधर भू पर आया,
मंगलमय मेवाड़-मही में
　　रण का कोलाहल छाया।
क्षात्रव्रती वीरों के मन को
　　मंगल का वरदान मिला,
रोम-रोम हो उठा मुकुल-सा
　　अङ्ग-अङ्ग में फूल खिला।

उधर राजपथ दिल्ली का भी
मुखरित था पाकर हलचल,
सज-धज कर चल पड़ा चपल गति
शहंशाह लेकर दल-बल।
कहें इसे छल की छाया या
मय मायावी की माया?
विजित धरा का जन-बल जैसे
प्लावन-सा बढ़-चढ़ आया!

शाह-वाहिनी बढ़ी जिधर भी
बन्दी-सी बन गयी दिशा,
नक्षत्रों को जुटा चले ज्यों
दिन की ओर तमिस्र निशा!
सपना खिलजी की पलकों का
रह न सकेगा अब सपना?
ध्यान लीन होगा दर्शन में
ध्येय चरम पाकर अपना?

नित्य खींचते रहे नयन में
    सपने जो धूमिल रेखा,
आज जगमगाता ज्योतिर्मय
    उनका चित्र बना देखा।
विजय-कामना बनी तूलिका,
    विषय-वासना रंग बनी।
चित्राधार बन गया मानस,
    छवि-पद्मिनी बनी रमणी।

इधर आक्रमण का ज्योंही इन
    शूरों को संवाद मिला,
रोम-रोम को सजग बनाता
    एक अमर आह्लाद खिला!
स्वाभिमान की एक लहर-सी
    प्राणों को छूती आयी!
अजर-अमर सन्देश सुनाने
    मानों दिव-दूती आयी!!

पवन लगा बहने प्राणों में
नवल प्राण भरता पल-पल,
आँखों के तारों में चमकी
बिजली की रेखा अचपल।
क्षात्रव्रती के लिए समर तो
सदा अमरपुर-द्वार रहा!
धर्म रहा रक्षण स्वदेश का,
प्रण-पालन ही कर्म महा!

जो सोते थे चौंक जगे वे
आँखों में उल्लास लिये,
मृत थे जो जी उठे लहू में
गति, ओठों पर हास लिये
रंग-विलास महल-मन्दिर का
रण-प्रांगण की ओर चला,
जीवन का क्षण, तन-तन का कण
धरणी का तृण-तृण बदला!

लगे फड़कने पल-प्रति-पल पर
धीरों के भुज-वज्र प्रबल,
खनक उठे लो कवच खनाखन,
झमक झनाझन शल झलमल !
आयुध-आगारों में उस पल
कौंध गयी मानों बिजली,
घर-घर में, ओठों ओठों पर
गरज उठी घन की अवली !

मत्त मतंग तुरङ्ग अंग कर
स्फूर्त्ति-सजग प्राणित अपना,
घोर स्वरों से गरज-तरज कर
उठे हुए उल्लसित-मना।
सजे तुरग-पीठों पर सैनिक
सैनिक-पीठों पर ढालें,
कर-कर में कौशल-बलशाली
विद्युत-सी वर करवालें।

'शुण्डों सी चंचल बाहों में
आज फणी फुंकार उठें
प्रत्यञ्चाओं में टंकारें,
कण्ठों में हुंकार उठें !'
शंख-ध्वनि के साथ विभीषण
रणित हुई यों रणभेरी;
रण-स्थली गा उठी कि आओ,
प्रस्तुत है छाती मेरी !

शृङ्ग-मृदंग पणव-गोमुख-गण
ध्वनित हुए भैरव रव में,
प्रलय-पलों में नृत्य छिड़े ज्यों
भूतेश्वर जागे भव में !
उठे क्षितिज से दो दल-बादल
घिर आये बन घोर घटा,
धरा-धूल के धूम-तिमिर में
दमक उठी दामिनी-छटा !

बढ़ीं और दोनों वाहिनियाँ
  टकरायीं गर्जन करती,
विप्लव के घन के घर्षण से
  गूंज उठे अम्बर-धरती !
वीरों के दल-बल चलते थे
  करते थे भीषण रणरव,
बढ़ता है तट से टकराता
  गरज-गरज जैसे अर्णव।

•

लक्ष-लक्ष जन लगे जूझने
  चला-चला कर के करवाल,
हो जाएँ ज्यों समरोन्मुख दो
  लक्षमुखी भैरव विकराल।
असि-असि का शल-शल का पल-पल
  होता था घर्षण भीषण.
असुर-सुरों ने आज किया हो
  फिर जैसे सागर-मन्थन।

गज गज पर, तुरंग तुरंगों पर
घोष तुमुल कर टूट पड़े,
जब उनकी पीठों पर बैठे
रणरागी रणवीर लड़े!
उछल-उछल चंचल आयुध चल
दिखलाते थे समर-कला,
देख-देख उनकी चंचलता
होती थी चपला अचला!

'हर-हर महादेव' में मिल-मिल
रणचण्डी-जयघोष उठा!
'अल्ला हो अकबर' विपक्ष से
उत्तर तभी सरोष उठा!
'बढ़ो' 'लड़ो', 'पकड़ो' ललकारें
'मार गिराओ बढ़-बढ़ कर।'
कर्ण-कुहरभेदी ध्वनियों से
काँप उठा अम्बर थर-थर!

धूलि–धूसरित हुईं दिशाएँ
लो अब तो आकाश छिपा,
तिमिर-पटल से भासमान का
त्रिभुवन–दीप्त प्रकाश छिपा !
लगे टिमटिमाने अम्बर में
रजनी से अगणित उडुगण,
प्रलय–काल की महानिशा–सा
बना अमंगलमय प्रांगण !

समरमदोन्मद मातंगों की
करती थी चिंग्घाड़ बधिर,
जिनके पद की धमक-धमक पर
होती थी धरणी अस्थिर,
तुरग उछल पड़ते थे मानों
ला देंगे पद से भूचाल,
उनकी चंचलता में असि भी
लगती थी अचला उस काल।

असि की चमक देख होती थी
    द्युति विद्युत की भी धूमिल,
रक्त–फुहारों से मिल फूला
    इन्द्रधनुष झिलमिल झिलमिल।
मेदा-मज्जा, रक्त-मांस थे
    पड़े कहीं, कंकाल कहीं!
वीर, रौद्र, वीभत्स, भयंकर
    सब रस थे उस काल वहीं!

पल में उन रौरव चित्रों से
    समरस्थली श्मशान बनी,
देख समर वह भीम-भयंकर
    काँप उठी अचला अवनी।
शोणित की बह चली उमड़कर
    स्रोतस्विनी रणस्थल में,
पुण्यधाम पा गये स्नात हो
    योद्धा उस पावन जल में!

विकलांगों का जाल बिछ गया
    पग-पग पर पंकिल भू पर,
कण्ठों के सकरुण क्रन्दन से
    कँपे गगन के शत-शत स्तर।
मन की विह्वल व्यथा-कथा से
    काँप रही है कलम यहाँ—
विश्वम्भर भी रोक सका है
    वसुधा का संहार कहाँ ?

जन को भक्ष्य बनाती रहती
    जन की ही यह तीव्र क्षुधा !
पाप–पुण्य के संघर्षण में
    त्रस्त सदा रहती वसुधा !!
सत् है यह या असत्,
    जगत् में इसका निर्णय कौन करे ?
क्या है पाप, पुण्य क्या है फिर ?
    कवि क्या धारण मौन करे ?

जन की सरल सभ्यता उसको
यही सिखाती आयी है!
अपनी इसी सरलता में वह
कुटिल जटिलता लायी है!
छिपी हुई इस मानव मन में
जो कुछ पाशव वृत्ति जहाँ!
वही रचा करती है जग में
ये भीषण विभ्राट यहाँ।

मर–मिटकर भी नहीं मनुज को
इस जग में जीना आया!
मनुजों का आमिष खाना या
लोहू ही पीना आया!!
स्मरण करें हम इस विषाद में
गीता–गायक की वाणी—
'मनुज युद्ध को युद्ध न मानें,
कर्म - भावना कल्याणी।'

देव और दानव दोनों ने
अघटित यहीं घटित देखा—
लिखी हुई है रक्तपात में
मानव की संस्कृति-रेखा !
अन्धकार की इस छाया में
जग को यदि आलोक मिले,
तो यह शोक बने मंगलमय
नन्दन-सा यह लोक खिले !

बरसाकर ढाकर जी भर भर
प्रबल शत्रु पर प्रलय प्रखर,
देख रहा था खिलजी आगे
खिंचता चित्र मधुर मनहर।
सेनाएँ दोनों पक्षों की
क्षीण हो रही थीं पल-पल,
घूम रही थी दो आँखों में
रमणी की छवि ही उज्ज्वल !

शाह-वाहिनी वह बढ़ती थी
कह-कह 'अल्लाहो अकबर !'
पर टकरा पीछे हटती थी
ज्यों तट से उत्ताल लहर !
तब पछाड़ खा उपल-शिला पर
रोता था उर का पानी,
उसके क्रंदन पर हंसता था,
दुर्ग नगर का अभिमानी।

शिर को ऊँचा किये खड़ा था
वह शोणित-सागर के पार !
शाही सरिता छू न सकी थी
उसका गर्वोन्नित प्राकार !
था प्राकार कहाँ, वह तो था
क्षात्र-धर्म का सजग शरीर,
जिसकी सुखद गोद में हँस-हँस
स्वर्ग छू रहे थे रणवीर।

जौहर

शत-शत बार प्रलय के उस पर
मँडराये बादल घातक,
पर गौरव-गिरि-शिखर दुर्ग का
झुक न सका ऊँचा मस्तक।
आक्रामक मर-मिटे अपरिमित
इसकी आँखों के सम्मुख;
धीर-वीर भोगी-योगी यह
सहता रहा सभी सुख-दुख!

प्रलय-बाढ़ सेना की आ-आ
करती थी आघात प्रबल,
पर वह रहा अडोल-अकंपित
अडिग अचल-सा अटल अचल!
क्षत्रिय-शूरों के शोणित से
तुम जब थे अभिषिक्त हुए,
क्यों न रहो तब दुर्ग, अमिट तुम,
तुम्हें न पाशव शक्ति छुए!

कई मास तक रही धधकती
रण की विध्वंसक ज्वाला,
उसकी लपटों ने होता को
अपना हव्य बना डाला।
एक नहीं, दो नहीं, न जाने
कितनी बार बढ़ी सेना
ख़िलजी को पर सुलभ कहाँ था
अभी विजय को छू लेना?

उसके वे तारक-से सैनिक
मिटते थे जल-बुद्बुद से,
रजनी की भीमा रेखा ज्यों
छिपती ऊषा के मुद से।
अन्तर की लहरें उठती थीं,
टकराती थीं वे तट पर;
बुद्बुद उनके बिखर-बिखर कर
लिखते थे मानों अक्षर—

जौहर

"होगी यों ही यदि पल-प्रति-पल
मेरी यह सेना अबला,
कैसे होगा पार इलाही !
इतना विकट समुद्र भला ?
इस बदरंग जंग में मौला,
मिटते मेरे रंग खिले !
अंग-अंग मेरा रोता है
कैसे वह पद्मिनी मिले !

या अल्ला, सुलगी कैसी यह
त्रिध्वंसिनी समर-ज्वाला !
मेरा दल-बादल सब जिसने
कुछ पल में ही पी डाला !!
इसकी लपटों में पड़ हम सब
झुलस जल रहे तृण-तृण से,
वैरी तो यह विजित न होगा
भीषण से भीषण रण से।

कितनी बार यहाँ दिल्ली से
नया--नया दल-बल आया,
पर फिर भी कब मेरा सब बल
इसे पराजित कर पाया !
क्या अलक्ष्य पद्मिनी रहेगी
'क्षत्रिय वीरांगना', 'सती'
'स्वाभिमान की पुजारिनी' वह,
रक्षक जिसके 'क्षात्रव्रती' !

सुनता हूं सतियों के सत की
होती है ऐसी ज्वाला,
जिसने लाखों को छू-छूकर
पल में धूल बना डाला !"
होता था सुलतान विकल यों
चिन्ता में पल-पल घुल-घुल ;
अन्तर का यह द्वन्द्व निरन्तर
करता था उसको व्याकुल—

"चुभा मुझे जो कण्टक बन-सा
छोड़ा सिंहासन अपना,
दौड़ा मैं इस ओर हरिण हो
यह मरीचिका आज बना!
अभी पद्मिनी को पाने की
आशा किन्तु न चूर हुई;
जितना निकट बढ़ा उसके मैं
उतनी ही वह दूर हुई!

रहा इधर न उधर का अब तो
हाय, अधर में आज टँगा!
प्राण न यहाँ बचे तो यह तो
सौदा पड़ा बड़ा महँगा!!
पर वह दुर्लभ रत्न मिले तो
प्राणों को भी तोल धरूँ!
उस धन के आगे पल भर के
जीवन का क्या मोल करूँ?

पाकर ही लौटूँ न उसे क्या
जो मन को हो आज रुची ?
स्वाहा हो, हो जाये मेरी
यह सब सेना बची-खुची !
मधुप बना जो भूल सकेगा
वह कैसे पद्मिनी कभी ?
इसी शमा पर परवाने के
जल जायें ये पङ्ख सभी !

मँडराती हो आज भले ही
मौत मुई मेरे सिर पर ;
पर बन्दा पीछे न धरेगा
बढ़ा कदम बन्दा-परवर !
रहे सामने अड़ी खड़ी ही
मेरे आज विनाश-घड़ी ,
जीवन और मरण से बढ़कर
विकट समस्या यही बड़ी !

मेरी देह गिरे, गिर जाये,
रहें न ये चाहें भूखी !
जन्नत छिने, मिले दोज़ख़ ही,
रहे न यह दुनिया रूखी !
मिले अगर पद्मिनी पलक में
दोज़ख़ भी जन्नत होगा,
उसके बिना स्वर्ग का सुख भी
मुझको बेलज़्ज़त होगा !"

इधर सोचता था ख़िलजी नृप
असमञ्जस में यों जकड़ा,
तन्तुवाय बनकर बुनता था
दुरभिसन्धि का जाल बड़ा।
उधर लौह की लेखिनियों में
क्षत्रिय रक्त-मसी भर-भर,
लिखते थे इतिहास-पटल पर
जय-प्रशस्ति अपनी सुन्दर।

उनका रण था स्वाभिमान के
सुख से मनरंजनकारी !
असिधारा में ही अंकित थी
जग-जीवन की जय सारी !
एक वीरगति में मिलती थी
उन्हें सकल अमरत्व-सुधा !
आन-मान की रक्षा जग में
स्वयं उन्हें थी काम-दुधा !

क्षत-विक्षत होता था तन, पर
मन पर हँसता था उल्लास !
शोक-निशा में भी करता था
जीवन नव अशोक-विकास !
नहीं कभी झुकता था आगे,
कटकर गिर पड़ता था माथ !
गौरव को था पिया उन्होंने
माँ की पयधारा के साथ !

स्वतन्त्रता का प्रेम प्रेय है,
किसी जाति को भी जबतक,
उसके आगे हैं जगती की
सकल शक्तियाँ नतमस्तक।
अमल और अकलंक अनल था
उनका जीवन–प्राणार्पण,
कुन्दन था जिसमें तप-तपकर
यश के कांचन का कण-कण।

धधक रही थी रत्नसिंह के
उर में जो प्रण की ज्वाला,
उठ–उठ ओठों पर आती थी
उसकी लपटों की माला.
उसे हृदय का राग कहें या
उसे आत्मसंगीत कहें ?
उसे मुक्ति का मर्म कहें या
जीवन–धर्म पुनीत कहें !

(गीत)

किसे वरोगे वरवीरो ?
स्वतन्त्रता या परवशता का
ग्रहण करोगे कर वीरो !

हो शूलों का मुकुट शीश पर
ज्वाला की ही जयमाला,
तब स्वयम्वरा स्वतन्त्रता की
पाओगे तुम वरमाला !

आत्माहुति की व्रतवेदी पर
कालकूट पी तिक्त तुम्हें !
करना होगा उसे प्राण के
अमृत से अभिषिक्त तुम्हें !
उससे आलिंगित होकर तो
मरोगे न मर-मर वीरो !
किसे वरोगे वरवीरो ?

परवशता तो खड़ी सामने
लिये 'हार' का आकर्षण;
डाल दुखभरे अपने मुख पर
सुख-वैभव का अवगुंठन!

पाशों के मधु बन्धन होंगे
पीड़ाओं के परिरम्भण,
लय हो तब असत मरण में,
यह सत्-शिव-सुन्दर जीवन!

जीना है क्या विमल भाल पर,
यह कलंक धर-धर वीरो?
स्वतन्त्रता या परवशता का
ग्रहण करोगे कर वीरो?

एक-एक कर कर देंगे हम
रणवेदी पर तन बलिदान!
होगा स्वतन्त्रता-देवी की
पूजा का यों पुण्य-विधान!
जीवन में बस एक बार ही
आता है यह मंगल पर्व!
जीवन को खोकर भी जग में
रक्षणीय है गौरव-गर्व!

कहते हैं नक्षत्र-नयन से
पितर हमारे सुरपुर में;
प्राण फूंकता क्षात्रधर्म भी
कहता है हमसे उर में—
'अपने इस नश्वर जीवन में
आया है सुर-तीर्थ यहीं;
मोह जला दो अन्तर्तम का
आज बनो तुम पार्थ नहीं!'

जौहर

जगती के धूमिल पथ पर यदि
जीवन-रथ हो दिशिहारा !
मोह-निशा में, भ्रान्त दिशा में,
क्षात्रधर्म हो ध्रुवतारा !
जिसकी पुण्य रेणु से उपजा
देह हमारा वज्र बना,
उसके कण कण का रक्षण है
पुण्य-पुनीत धर्म अपना !

तीर्थ-भूमि की रेणु-रेणु पर
न्यौछावर हो यह जीवन !
जननी के पावन चरणों में
बने पुजापा प्राण-सुमन !
वह स्वतन्त्रता-दीप कि जिसमें
होताओं का रक्त जले,
बुझ न सके वीरो, प्राणों की
वर्त्ती बुझने के पहले !

छू न सके पापों की छाया
　　यह स्वतन्त्रता की लाली !
आओ अपने प्राण जगाकर
　　कर दें जगमग दीपाली !!
वक्षस्थली अडोल अचल की
　　स्वतन्त्रता की मूर्ति बनी !
सुना रही जीवन-जाग्रति का
　　मन्त्र मधुर स्वर से अवनी !!

गाते हैं विहंग-वैतालिक
　　गौरव के ही गान यहाँ !
सरिताएँ भी सुना रही हैं
　　अजर-अमर आख्यान यहाँ !
देखोगे पद-दलित परों से
　　भू-मा की मंगल काया ?
झुलस न जाओगे क्या छूकर
　　परवशता की यह छाया ?

जौहर

रमा हुआ है जिनके मन में
निज महिमा का मान महा,
छिन्न-भिन्न मस्तक भी जिनको
सदा विजय का केतु रहा !
उन क्षत्रिय वीरों के रण का
प्रलय एक उपमान बना !
शङ्कर के नाशक तांडव-सा
उनका समर-विधान बना !

प्राणों से था बँधा जहाँ पर
भू-मा का रक्षा-बन्धन,
जीवन भी देकर करना था
उन्हें धर्म का प्रतिपालन !
आन-मान की चिनगारी ले
हुई अग्नि जो प्रज्ज्वलिता,
लोहू का ही अर्घ्य पान कर
हो सकती थी वह शमिता !

महिमा की मंजुल लाली ले
चमकी मस्तक पर रोली,
काया की ही समिधि बनाकर
जली यहाँ जीवन-होली !
क्षणभंगुर मृण्मय दीपों में
अमर स्नेह–धारा ढाली,
अपने प्राणों की लौ देकर
मना रहे थे दीपाली !

भूमि-देवता के मन्दिर में
जुड़ा महोत्सव आज यहाँ !
स्वतन्त्रता के पुण्य यज्ञ के
होता थे नर-राज यहाँ !
आज मुक्ति-याचक बनते थे
अपने मस्तक के दानी
दाता होकर भी थे रण में
मस्तक के याचक मानी !

जौहर

ज्योति जगाती-सी प्राणों में
दीपशिखा असिधार बनी,
शीश बना नैवेद्य चरण में,
रक्त नदी शृंगार बनी,
जीवन का उत्सर्ग आरती,
बलि पूजन-व्यापार बनी,
शत-सहस्र मुण्डों की माला
चंडी को उपहार बनी !

मानव के इस रक्त-प्रलय में
लगी डूबने वसुन्धरा !
हुआ पुत्र-शोणित से लथपथ
मा का अंचल हरा-भरा !
महामृत्यु के इस ताण्डव में
छिपी हुई जीवन-छाया !
मिटी अमर वरदान दिलाती
क्षुद्र रजकणों की काया !!

पल-पल अर्पित गिरे पुजारी
धर पूजा-साधन अपना,
पाप—पावनी आहुतियों से
पग-पग भू पर तीर्थ बना!
यह ध्वंसक व्यापार! इसे हम
मुक्ति—लक्ष्य का वेध कहें?
इसे निषेध कहें सत्पथ का
या निर्मम नरमेध कहें?

— ५८ छन्द —

तृतीय ज्वाला

सन्धि

भिक्षु आज बन मानवता का,
कवि तू इस भव के आगे,
जन के मन में ही जन के प्रति
कल्याणी करुणा जागे !
मानव तो यह यंत्र निरा है
यम-यांत्रिक के ही कर का,
इसकी गति को जान रहा है
मन केवल विश्वम्भर का !

एक उसीके लघु इंगित पर
रचता वह क्षण-क्षण लीला,
कर सकता है कौन जगत में
विधि का वह बन्धन ढीला ?
इसी मोह-माया में पड़कर
रक्तपात भी धर्म बना !
कण पर प्राण चढ़ा देना ही
क्षात्रकर्म का मर्म बना !!

रक्त-नदी के इस प्लावन में
प्रेम-भावना ही तरणी !
दे सकती है मानवता ही
पाँव टिकाने को धरणी !!
एक इसी सम्बल को पाकर
दुर्गम जग-पथ सुगम बने !
ध्वंस होरही सृष्टि सँभाले
डगमग हुए चरण अपने !!

भैरव के इस भीषण रव में
    शांति एक संगीत मधुर !
जिसे सुना करने को मानव
    रहता है प्रतिपल आतुर !
एक सत्य की किरण यही है
    इस भव के भीषण तम में,
यही मधुरिमा घोल रही है
    विश्वबन्धुता के सम में।

प्लावन के इस कोलाहल में
    मोहक मुरली के स्वर-सा,
कौन चला जाता यह कहता
    अभिशापित भू को वर-सा ?—
"बन्द करो, यह बन्द करो रण,
    वेणु बजे फिर आज अरे !
हिंसक पंचानन के मन में
    जाग उठा है हरिण हरे !"

बजी साथ ही मधुर गोमुखी
शान्ति वर्षिणी कल्याणी
तलवारों ने सुनी निराशा,
अन्तर ने आशा-वाणी —
"शस्त्र-त्याग हो एक पलक में,
शोणित एक न बूंद बहे—
तो अब से सम्राट तुम्हारा
जीवन भर तक बन्धु रहे।"

सहसा जैसे प्रलय-बाढ़ को
तट पर क्षणिक विराम मिले,
चण्डी के चरणों की गति में
यति आये, विश्राम मिले,
रुका समर वह पाप-पुण्य का
मंगल और अमंगल का,
रण का कोलाहल भी पल में
हुआ अचानक ही हलका।

शस्त्र-त्याग की बजी गोमुखी,
रक्त-मेह की धार रुकी,
संघर्षण से थकी वीरता
शान्ति-संधि की ओर झुकी!
छिपी कोष में असिधाराएँ
ज्यों विद्युतमाला घन में,
नागिनियाँ अपने विवरों में
कुटिल भावनाएँ मन में।

वीर 'रत्नसी' के आगे यह
कौन खड़ा संदेश लिये?
आज तुर्क सैनिक आया है
शान्ति-दूत का वेष किये!
सोच रहे हैं व्यर्थ विपक्षी,
लाया क्या उद्देश यहाँ?
सुना रहा है रत्नसिंह को
वह शाही सन्देश यहाँ—

"आज अशुभ इस संघर्षण का
खोल रहा हूँ भेद तुम्हें,
प्रकट कर रहा हूं इस पल मैं
जीवन भर का खेद तुम्हें।
जिससे गौरव मिला मुझे अब
उस रण में उल्लास नहीं!
बिना अर्थ इस रक्तपात में
अब मेरा विश्वास नहीं।

शौर्य्य-शक्ति है यहाँ पुरुष में,
नारी में लावण्य यहाँ,
धीर-वीर सुन्दरियाँ पाकर
स्वयम् धरा है धन्य यहाँ,
रूपवती पद्मिनी यहाँ है
रूपसियों में रमा-समा!
और रत्न तुम रणवीरों के,
सम्भव कब भव में उपमा?

दिग्दिगन्त में रूप-गन्ध है
  उसी पद्मिनी का छाया,
अन्तर का मधुमय बन्धन बन
  इतनी दूर मुझे लाया !
मैं सच्चा सौन्दर्य–उपासक
  आराधन–साधन लाया,
दुर्विपाक पर कर्मों का ही
  मुझे प्रसाद न दे पाया।"

क्षत्रिय श्रोताओं के लोचन
  चकित हुए कुछ स्तंभित से !
रोका किन्तु रत्न ने उनको
  निज नयनों के इंगित से !
वहाँ उबलते हुए दूध में
  पड़ते यदि जल-बिन्दु नहीं,
तो पल भर में रक्त-नदी ही
  बह चलती उस काल वहीं।

"जिसका स्वप्निल रूप रमा है
इन नयनों के तारों में,
जिसकी छवि का गान छिपा है
मेरे मधु उद्गारों में,
जिसकी आराधना बसी है
मेरे सब व्यापारों में,
उसकी ही अर्चना समायी
इन मेरी सब हारों में।

उसी विधाता की कृति रति को
मैं पलकों में भर जाता,
वैभव से विह्वल जीवन को
तो कृतार्थ कुछ कर पाता,
पल-पल ये पुतलियाँ निरखतीं
नित्य उसी की छाया को!
सत्य करे चरितार्थ स्वयं ही
क्यों न कल्पना-माया को?

अखिल भुवन में तुल न सकी जो
    छवि वह पलकों में भर लूं
तो इन सब भव के रूपों को
    दृग से निर्वासित कर लूं !
रस-धारा में आप्लावित हो
    पावन तीर्थ बनें पलकें,
बनें साधना मन-तापस की
    चपल कामना की छलकें ।

सुन्दर रूप खुदा ताला का
    होता है वरदान महा,
उसका पान नयन-मन से है
    उसकी छवि का पान अहा !
यह शीतल चाँदनी बिछी जो,
    बहती मलय बयार यहाँ
यह उसकी स्मिति, सुरभि उसी की,
    सभी प्रणय-व्यापार यहाँ !

जो इस भव में रूप-सुरा है,
वही ख़ुदा की प्रेम-सुधा !
इसी प्रेम का वैभव पाकर
यह रमणीय बनी वसुधा !
यह जग का आसव आसव है ?
नहीं, प्रेम—उन्माद यही !
यह जग की उल्फ़त उल्फ़त क्या ?
इश्क़—ख़ुदा का स्वाद यही !

तो क्या अपने स्वर्ण महल में
दोगे वह सुन्दर अवसर ?
होगा प्रेम—मिलन अपना भी,
और रूप—दर्शन जी भर;
देख सकूँ यदि एक पलक भर
वह मानवी रूप—देवी,
प्रायश्चित्त करूँ पापों का,
जीवन हो मानव-सेवी।

भीषण नर-संहार इधर है,
क्षणिक पलक-संचार उधर !
तोल सको तो तोल समझ लो—
लघु क्या है, क्या है गुरुतर ?
काश कि हम इस विनिमय से ही
चिर बन्धन में बँध जाते !
प्रेम और विश्वास इन्हीं पर
टिके हुए हैं सब नाते।"

ताप क्षणिक पा खौल उठा है
कोमलतम नवनीत जहाँ,
तब ज्वाला में ढले हुए वे
रह पाते हिम-शीत कहाँ ?
प्रस्तर-प्रतिमाओं से वे सब
रह न सके अब जड़ित खड़े,
अग्निवंशियों के अंगारक
मुख से यों अंगार झड़े !—

"अभी हुआ है धरती-तल से
राजपूत का लोप नहीं,
स्वयं काल भी झेल सकेगा
कठिन हमारा कोप नहीं!
हमें अभी संकेत मिले तो
फिर रणभूमि श्मशान बने!
हम बलिदाता प्रतिपक्षी का
प्राण-प्राण बलिदान बने!

सुनते हैं सुन्दरियों से ही
उसका शाही हरम भरा,
पाप-वासना से है अब भी
वह इतना अन्धा–बहरा!
जिस सौन्दर्य-देवता ने है
जीवन में मंगल देखा,
उसे छुएगी क्या पापी के
मन की यह पातक-रेखा?

जौहर

दलित न कर पाया वह बल से
पावन यह मेवाड़–मही,
रंग रचेगा अब छल–बलमय
क्या मोहक खिलवाड़ यही ?
छल-कौशल की इस डोरी से
बाँध सकेगा कौन हमें ?
देव, निवेदन है कि न कहना
अब रहने को मौन हमें !

लज्जा लुटती रहे हमारी,
बने रहें हम मूक सभी !
देख सका क्या एक किरण भी
रवि की अन्ध उलूक कभी ?
करते धीर-वीर क्षत्रिय हैं
घृणित रूप-व्यापार कहाँ ?
चढ़ आये वह शतोगुणित हो,
लाये सब संसार यहाँ !

जबतक काया में शोणित का
एक बूँद भी शेष रहे,
जबतक इन अंगों पर अक्षत
वीरवरों का वेष रहे,
तबतक देव, न होने देंगे
लोप हमारी लज्जा का!
अँगुली उठे कि आयोजन हो
नवसेना की सज्जा का!

मणि-कांचन के कोष लुटाकर
जीत सके वह हमें भला!
किस बल पर दुर्बल वह करने
यह दर्शन-व्यापार चला?
उत्तर मिले आज बैरी को
इन भालों की धारों से!
प्रेम-मिलन वह करे, करे पर
इन तीखी तलवारों से!

छाया तक को छिपा, भस्म जो
कर देगी अपनी काया,
देखें उस ललना की कैसे
छलनामय छू ले छाया ?
सीसोदिया वंश की महिमा
क्या न अभी उसने जानी ?
फिर देखे वह उधर, चखे वह
पहले खाँडों का पानी !

गौरव-धन ही लुटा हमारा
जग में क्या रह गया भला ?
स्वर्ग-धरा का विभव वृथा है,
यदि यह महिमा-मान चला !
असिधारी हम रहे समर में
अमर विजय के विश्वासी !
इंगित हो तो तृप्त करा दें
ये अपनी असियाँ प्यासी !"

रक्तरँगे फण लिये उसी क्षण
　　नाग वहाँ सब साथ उठें,
उन्हें गारुड़िक बन बिठलाने
　　यदि न रत्न के हाथ उठें—
"रुको, रुको, सँभलो, न बहो अब,
　　वीर. धीर-गम्भीर बनो,
नीर बनो उबलो पल-प्रति-पल
　　पर न उफनते क्षीर बनो!

एक क्षणिक-सी रूप-झलक पर
　　लाखों का संहार बचे,
कर्णकुहर-भेदी घर-घर में
　　और न हाहाकार मचे!
इधर एक देवी का दर्शन,
　　उधर रक्त का सिन्धु महा!
इधर रही नारी की छाया,
　　उधर मृत्यु का नृत्य रहा!

जौहर

आज हमारे राजमहल में
यवन-नराधिप अतिथि बने,
'प्रायश्चित करे पापों का',
'सत्य करे अपने सपने'!
हम सबकी आँखों के आगे
करे आज वह मनभाया!
मंगल देख रहेगी कबतक
भला अमंगल की छाया?

एक झलक से एक पलक में
यदि उद्धत सम्राट झुके,
तो पल भर हम रुकें यहीं पर
यह भीषण विभ्राट रुके!
शत्रु हमारे भवन-द्वार पर
रुके, स्वयं आ अतिथि बने,
तो क्या उसके अभिनन्दन में
खडग रँगेंगे हम अपने?

उज्ज्वल था अतीत यदि अपना,
वर्तमान धूमिल आया,
अन्धकार में ढको न अपने
उज्ज्वल भावी की छाया !
कल का मधु—मादक आसव यदि
तिक्त हलाहल आज बना,
उसे सुधा करके पीना है,
शंकर-सा व्रत ले अपना !

मर मिटकर इस पुण्य-समर में
मिल जायेगा स्वर्ग तुम्हें !
किन्तु अभी तो माँग रहा है,
बारबार अपवर्ग तुम्हें !
लिखा रहेगा युग—युगांत तक
वर्तमान का यह लेखा,
चित्र बनेगी कलाकलित ही
यह कुंचित-धूमिल रेखा !

इन असिधारों के पीछे तो
लहराता है प्रलय महा!
जिसमें भूमि न सकी नहा वह
और कौन-सा स्नान रहा?
यह न समझना कायर है या
भ्रांत मूढ़ यह सेनानी
उसने अपने इस जीवन में
हार किसीसे कब मानी?

देख रहा मैं पार क्षितिज के
मुँह फाड़े विभ्राट खड़ा,
किन्तु तुम्हारी इन आँखों पर
ज्योतिर्मय आवरण पड़ा!
इस प्रकाश की चकाचौंध में
सत्पथ को पहचान सको!
रुको, थके हो क्या न अभी तुम,
मत विराम से यों झिझको!

कैसे दिखला देगी काया
 अपनी उसे वीर-जाया ?
हाँ, पलभर सुलतान देख ले
 दर्पण में केवल छाया !"
'हाँ, सुलतान देख ले क्षण भर
 दर्पण में केवल छाया !'
रुक-रुक कर, धीरे-धीरे से
 कुछ कण्ठों ने दुहराया।

शीतल सुखद समीर बने ज्यों
 पल भर में भीषण आँधी,
शांति बनी वह क्रांति समर की,
 इन्द्रजाल की-सी बाँधी !
शिथिल हुई वीरों की बाहें,
 बाहों के आयुध भूले,
क्षणभर में सब शांत हुआ ज्यों
 सृष्टि प्रलय की सुधि भूले।

लहर अचेतनता की आकर
वीरों के मन पर छायी,
विविध भावनाएँ ओठों पर
शब्दों के बुद्‌बुद लायी—
"हम न समझते थे कि हमारा
सेनानी दुर्बल होगा।
सुधा भरी इन मनुहारों में
भरा हलाहल-छल होगा।

मिलता हमें दूत वह, उसका
शयित धरा पर शव होता!
अबतक रण में महानाश का
गुंजित ताण्डव-रव होता!"
कहने लगे कई यों मन से,
तन से सुप्त अचेत बने—
"खिलजी देखे क्यों न पद्मिनी,
पर वह पहले प्रेत बने।"

छूट चुका पर प्रत्यंचा से
लौटा है वह तीर कभी ?
अभिनन्दन के लिए जड़े-से
खड़े हुए थे वीर सभी,
आशा की अन्तिम रेखा–सा
खिलजी को सन्देश मिला !
रोम लहलहाया पल्लव–सा,
कुड्मल–सा हृदेश खिला ।

लाली–सी झलकी पलकों में,
ओठों में स्मिति-सी हलकी.
रोम–रोम से शहंशाह की
मधु रस की गगरी छलकी !
'हाँ, आकर सुलतान देख ले
दर्पण में कुछ क्षण छाया,
आज सफल जीवन करने का
भाग्य परम अवसर लाया !'

'तन जाये, जाये क्षत्रिय का
    जा सकता है वचन नहीं !'
क्षण-क्षण पर खिलजी का तन-मन
    करता था बस मनन यही।
आसव पी कह उठा कि कर ले
    दर्शन ही तू दीन अभी !
आज मिले दर्शन तो होगा,
    मिलन अवश्य कभी न कभी !

—४४ छन्द—

चतुर्थ ज्वाला

दर्शन

मादकता-सी मधुर वासना
रमी हुई जिसके मन में,
मुक्ति कहाँ उसको पीड़ा से
क्षण-भंगुर इस जीवन में!
उस पीड़ा को क्रीड़ा करने
पीता वह आसव-प्याला,
दुख को सुख करने मानव-मन
बनता पल-पल मतवाला!

मरु के हारे-थके पथिक को
जैसे मधु-उद्यान मिले,
अन्धकार से भरे नयन को
जैसे रुचिर विहान मिले,
जल-प्लावन में पतित मनुज को
जैसे तृण का स्पर्श मिले,
दुख-शूलों से बिंधी देह को
आलिंगन – उत्कर्ष मिले,

प्राणों में चेतनता छायी,
मानस को उल्लास मिला,
पलकें भर लायीं लाली–सी,
ओठों पर मधुहास खिला!
अंकुरिता हो उठी पलक में
उसके तन की विरस लता,
छवि-दर्शन के सुख-सपनों में
सोयी मन की विह्वलता।

फूटा कण्ठ आज मधुता पी
अबतक था जो मूक बना!
फूट पड़ा उल्लास हृदय में
चुभता था जो हूक बना!—
"प्रतिबिम्बित करता था जिसकी
छवि क्षण-क्षण दर्पण मन का,
नयन निहारें आज पलक भर
रूप उसीके आनन का!

आज कल्पना की कृति मेरी
सत्य और साकार बने,
गीत मधुर मेरी तन्त्री की
वह तीखी झंकार बने;
मेरे निबिड़ तमिस्र गगन में
चन्द्र खिले, राका फैले,
धुल जायें इस जीवन-पट के
युग-युग के लांछन मैले!

जौहर

खिले पद्मिनी इस मानस में,
उर से मधु मकरन्द झरे,
प्राणों का मधुव्रत जिनको पी
जीवन का अवसाद हरे,
सुखद सत्य में अब विलीन हों
तन-मन के विह्वल सपने,
भूले मन चाहों-आहों के
आज युगों के दुख अपने !

तो फिर अस्त्र-प्रहार रुकें ये,
मेरे शस्त्रागार ढकें !
विजयश्री से थकन मिटा लें,
मेरे रण-संचार थकें !
क्षणभर छू न सका था अबतक
जग में काल कराल जिन्हें,
पल में पराभूत कर आया
यह छल-बल का जाल इन्हें !

सजे राजरथ आज सारथी !
बनूँ आज मैं विजय-रथी,
विकट कण्टकाकीर्ण पथों में
आज बनूँ मैं अथक पथी !
मोहक मधुर विराम बनी है
बाधा आज विषम पथ की
बरसों की वह अगतिभरी यति
बनी प्रगति मेरे रथ की !

शृंगारिके ! जा राज-साज ला,
तन-मन मेरा सजे-धजे;
उसकी छवि के नन्दन-वन से
मन में अब सुरपुर सिरजे !
पहना वसन सुवासित नूतन
इन्द्रधनुष के रंग-भरे,
अंग-अंग के मरु-आँगन में
फूलों का उपवन लहरे !

जौहर

आपानक ! आ कुम्भ खुलें फिर,
मणि-माणिक प्याले छलकें,
झलके अंगूरी अंगों में
पीयें, छकें, मुँदें पलकें !
नर्तकि ! भर लय चपल चरण में,
नूपुर में मधुकण धर ला;
चपल अँगुलियों में लीला ला,
पुतली में आसव भर ला !

चित्रकार ! ला कला जगा ले,
ले कर में कोमल तूली,
आज मिलन-रंगों से कर ले
चित्रित वे छवियाँ भूली !
वन्दी ! गा हो मौन-विसर्जन,
नव-नूतन यश-गान रचे;
गुञ्जित फिर हो उठें दिशाएँ,
आज विजय की धूम मचे !

वादक ! फिर से बजे विपञ्ची,
दश दिशि में मृदंग गरजे !
तारों से मधुमय रस बरसे,
हार प्रहारों से लरजे !
बजें विजय के वाद्य रुके जो,
मेरे झुके निशान उठें !
उठ पायें तो ये धरती पर
सोये जीवन-प्राण उठें !

प्रण की प्रत्यञ्चा पर शर से
खिंचे हुए थे प्राण विकल,
कुशल धनुर्धारी मैं, होगा
अब मेरा सन्धान सफल !
चन्द्र उदय होगया गगन में,
अब मानस में ज्वार चढ़े !
रुका रहा जो बँधा बाँध से
अब जय-पारावार बढ़े !"

शहंशाह के हृदय-कमल सा
उस पल शाही शिविर खिला,
पीत-विवर्ण अंग को मानो
स्वस्थ रुधिर का रंग मिला !
धूमिलता को डुबा प्रभा में
जय लक्ष्मी-सी मुसकायी !
नृत्य, वाद्य, गायन तीनों की
तरल त्रिवेणी लहरायी !

आंगारिक आये सज-धज कर
इन्द्रधनुष का साज लिये,
उर की शोभा कण्ठहार ले,
शिर की शोभा ताज लिये;
सुरा-सुराही और चषक ले
आये साक़ी अलबेले,
जिनकी छवि का रस पी-पीकर
मन पवि का पर्वत झेले !

जहाँ झनकती थी असिधारा,
अब पग के नूपुर झनके !
राग-रंग बन गये गीतमय
वे क्रन्दन शिविरांगन के !
जहाँ जमे थे पद शूरों के
नर्तकियों के पग मचले !
रंग मचा ऐसा जिसको ले
स्वर्ग स्वयं रचना रच ले !

और इधर यह रंग रुका तो
विजय राजरथ गरज चला !
मतवाले मन से डगमग पग
धरता–सा सजधज निकला !
पथ पर बढ़ा अरुण के रथ-सा
वृद्ध शाह का तरुण हृदय,
वेला लाँघ बढ़ा लहरों से
हृदय वरुण का करुणामय ।

जौहर

अमा–तिमिर को चीर अचानक
उजला ऊषा–राग जगे,
ख़िलजी के उर के अम्बर में
क्यों न भला अनुराग जगे !
मद-लाली छायी पलकों में
चञ्चल भाव–विहग जागे ;
चपल तुरङ्गों की गति से भी
चलती थी चिन्ता आगे—

"बनवीथी री, आज विहँस तू
नव रमणी की माँग बनी,
तरुमाला, लहरा कुन्तल–सी
रुचिर सुरभिमय स्नेहसनी,
उपल–शिलाओ, रक्तरँगी तुम,
आज फाग–त्यौहार करो !
धरणी की धूली का कण–कण
स्वर्ग–रेणु उपहार करो !

वल्लरियो ! कुञ्जों में अपने
जगमग दीपावली करो !
कलियों के कोमल दीपों में
अपने मधु का स्नेह भरो !
तिरो तितलियो ! तुम छवि-सर में,
सजो सप्तरङ्गी भूषा !
फूलो ! इन भ्रमरों के आगे
खोल धरो निज मंजूषा !

आज रुकी मेरी जयधारा
कलकल कर फिर बह निकली !
क्या उसके स्वर में स्वर भरने
यह निर्झरिणी आज चली ?
मेरे अहंकार-सा नीचे
गिरि से प्रबल प्रपात गिरा,
रो-रोकर हँस रहा आज यह
मुझ-सा ही असहाय निरा !

औहर

वन में चारों ओर मनोरम
मादक मधुर वसंत खिला!
वृक्षों में वल्लरी खिली है,
वल्लरियों में वृन्त खिला!
वृन्तों में नव सुमन खिले हैं
उर के मुक्ताहार बने!
कलित किसलयों के वे मोती
गृह में वन्दनवार बने!

पंखड़ियाँ ये अभिनन्दन में
जो किञ्जल्क रहीं बिखरा,
उनके डोरों में वँध बौरे
मन-से मधुप रहे मँडरा!
शतदल! क्यों मुसकरा रहा तू
अधर-राग से रुचि छहरा?
इनसे शतशत-गुणित मनोरम
रहे अधर उसके लहरा!

पिक-कूजन पा आज मुखर हैं
ये रसाल तरु की शाखें,
कण्ठ पद्मिनी का ही मानों
उड़ आया धर-धर पाँखें!
खञ्जन दीन! दिखा मत अपनी
मनरंजन चंचल लीला,
छू न सकेगा उन पलकों की
पुतली तू मोहनशीला!

चम्पे, फूल न दिखा-दिखा ये
अपने कुसुम सुगन्ध-सने,
मैं वह मधुकर हूँ कि जिसे पा
चम्पा भी पद्मिनी बने!
लहराती जल की लहरें ये
स्वर्ण-किरण का हास लिये;
उत्तरीय अङ्गों का मानों
लहराता है लास किये!

जौहर

मुग्ध मौलिश्री के तन से है
आलिङ्गित अंगूर-लता,
उसके स्वर्ण-वर्ण तन से या
झलक रही है मादकता !
लहरों के झीने घूँघट में
झलक रहे हैं लोल कमल,
ताने-बाने से छन-छनकर
ज्यों शरीर की रुचि उज्ज्वल।

सौरभ का आवरण रेशमी
ओढ़े यह आर्कीड़ खिला,
उसके खिले हुए अङ्गों को
ज्यों सौरभमय वसन मिला !
मृदु गति से मलयज बहता है
कलरव अपने साथ बहा,
बहा रहे हैं चरण उसीके
या नूपुर-रव मधुर महा !

शत-शत वातायन ये इसके
मदिरा से अधखुले नयन!
जिनसे झाँक रहा है वैभव
कर विलास-रस का प्रणयन!
भीतर से बाहर आती है
मधु संगीत-सुगन्ध-लहर;
नीचे से ऊपर उठ आयी
गर्व-पताका फहर-फहर।"

मादकता की अलसाहट में
ला चेतनता की लहरी
गाते थे उन्मुक्त रागिनी
द्वार खड़े प्रतिपल प्रहरी।
खड़े सामने मिले 'रतनसी'
मूर्तिमान अभिनन्दन-से,
मिला प्रेम का मन स्वागत में
मदिर वासना के तन से!

स्वागत के मोहक गानों में
खिलजी का तन-मन डूबा!
क्षण-छोटे इन उल्लासों में
जीवन का क्रन्दन डूबा!
डूब न सकी अतल तक, तल पर
पाप - वासना उतरायी;
एक पद्मिनी की मधु छवि की
तट-रेखा से टकरायी!

"स्वागत, हे अभ्यागत! स्वागत,
हे मेरे भूले भाई!
पाप-वासना दूर हटी जो
अब न तुम्हें छू ले भाई!
रण की इस ज्वाला में कितने
शूर हमारे शलभ बने!
थोड़े ही ला सके यहाँ पर
हम धन-जन-साधन अपने!

राज-अतिथि के शुभागमन से
आज धन्य यह द्वार हुआ !
मधु जीवन में आज समन्वित
यह निर्मम संहार हुआ !
यवन बन्धु के अभिनन्दन में
है यह राजभवन भूखा !
वैभववालों के स्वागत में
है यह आयोजन रूखा !

भारतीय के लिए मित्र हैं
अभिवादित अमित्र अपने !
अभिनंदित-वंदित ही होगी
मृत्यु स्वयं भी, अतिथि बने !"
बाँध लिया अपनी बाहों में
उसे देह का पाश बना,
पर क्या शहंशाह ख़िलजी को
वही स्नेह का पाश बना ?

नृप का यह बंधन बंधन था,
जो कि छूटकर बन्ध रहे !
ख़िलजी का बन्धन कैसा था?—
उसके मन की कौन कहे?
रत्नसिंह का स्नेह हृदय से
बन रस का निर्झर निकला;
ख़िलजी के निर्मम तन-मन को
क्या वह नहला सका भला?

"लाओ हेम-कलश में भर-भर
सुंदरि, आज सुवर्ण-सुरा !
कर लूँ आज पान तन-मन से
फिर न करूँ यह कृत्य बुरा !"
अगणित माणिक-चषक वहाँ पर
भरित हुए, फिर रिक्त हुए,
पी-पी कर अरमान शाह के
मन के सब अभिषिक्त हुए !

उमड़ पड़ा मदिरा का सागर
लहरों सा ख़ुमार लेकर,
लगा डूबने-उतराने अब
उसमें ख़िलजी का अन्तर !
मदिर पुतलियाँ बनीं अचंचल,
चंचल किंतु शरीर बना;
सुन्दरियों की रूप-विभा में
भूला वह सत्पथ अपना !

"इन कामिनियों को अल्ला ने
दी है अलबेली काया !
मुझे दीखती है इन सबमें
उसी पद्मिनी की छाया !
आया, आया स्मरण नृपतिवर,
वचन तुम्हारा मन-भाया !
'हाँ, सुलतान देख ले कुछ क्षण
दर्पण में उसकी छाया !'

जौहर

युग-युग से मैं देख रहा हूं,
रूप उसीका अलबेला;
उसकी मधु मदिरा पी कर ही
मैंने सब दुख-सुख झेला!
ये जो झूल रही हैं मनहर
मणियों की बन्दनवारें,
जिनकी ज्योति देख ज्योत्स्ना की
रजत-रश्मियाँ भी हारें!

मेरे मन के कानों में यों
कहती हैं मानों वाणी—
'हमसे लाखगुनी जगमग है
रे इन महलों की रानी'!
सम्मुख किसकी काया की यह
झलक झिलमिला रही अरे!
जिसे देखकर मेरे मन के
होश-हवास अरे, बिखरे!

किसकी छवि-मदिरा पी-पी ये
आँखें झिपती आती हैं ?
जिधर देखतीं उधर पलक में
रूप अलौकिक पाती हैं !"
'ते-री- है- ऐ-सी- छा-या- क्या ?
ते-री - है - ऐ-सी - छा - या ?'
कहती गिरी रतन के तन पर
खिलजी की उन्मद काया।

'यह यथार्थ घटना है कोई,
या केवल उन्माद-लहर ?'
करने लगे व्यजन क्षत्रियगण
प्रश्न पुतलियों में भर-भर !
"सत्य कहूं या स्वप्न इसे मैं,
इन्द्रजाल की या माया ?
तेरी है ऐसी छाया क्या,
तेरी है कैसी काया ?

जौहर

एक तुम्हारे लिए पद्मिनी !
भिक्षु रहा मैं जीवन भर !
आओ, हे सम्राज्ञि ! न रूठो,
अब मत बरपा करो क़हर !"
लिपट गयीं उन मणि-स्तम्भों से
आह, भुजाएं वे फैली,
मदिरा के तो साथ सदा हैं—
भाव बुरे, चिन्ता मैली !

"मानव-रत्न कहूं मैं तुमको
या मैं केवल भूप कहूं ?
इस वसुधा को स्वर्ग बनाता
या देवों का रूप कहूं ?
जीवन में मेरे मन ने है
कहीं न ऐसे जन पाये,
एक धर्म के लिए जिन्होंने
भव-वैभव भी ठुकराये !

एक तुम्हें पाकर इस जग में
मानवता वन्दिता हुई !
मानवता को पा सुरपुर से
धरती अपराजिता हुई !"
किसे नहीं लगती है मोहक
मधुर कलापी की वाणी ?
विष भी पी सकती है पल में
किन्तु मधुरिमा कल्याणी !

रण–आंगन में रक्त–प्रलय से
था जो चित्राधार सिंचा,
आज राजमन्दिर में जागा
ले ममता का चित्र खिंचा !
एक बार फिर मिली भुजाएँ,
भूलीं वे विरोध अपना !
कर्म-तीर्थ के उस आँगन में
पातक पावन पुण्य बना !

जौहर

छवि का प्यासा वह चंचल मन
खोज रहा था रूप यहाँ !
भ्रम-विभ्रम के संगम से था
प्रस्तुत दृश्य अनूप वहाँ !
शूलों के उसके तन-वन में
मादक मधु-उत्सव छाया,
अभिनन्दित हो उठी सुखों से
उसके मानस की माया !

शिरा-शिरा में स्पन्दन आया
उन उन्माद-उमङ्गों से !
अङ्ग-अङ्ग उसका आकुल था
व्यथित अनेक अनंगों से !
पग-पग पर उल्लास-तरंगें
लहर रही थीं अङ्गों से !
अन्तर का आकाश रँगा था
इन्द्र-धनुष के रंगों से !

उस दिन सहसा ही मन-वन में
जो लीला अंकुरित हुई,
रस-सिंचन से आज अचानक
लतिका बन पल्लवित हुई!
कब बहार आये अब देखें,
कब अब उसमें सुमन खिले?
कहीं न मुरझा जाये कलिका
कुसुमित होने के पहले!

चाव हृदय को मिला मिलन का,
तन को मद के हाव मिले;
धूप-छाँह के इन तारों से
बुने हुए यों भाव खिले—
"मुझे आज ही सुमुखि, जगत में
जीने का अधिकार मिला!
छवि-प्यासी मेरी पुतली को
रूप आज साकार मिला!

जौहर

ध्येय बनी थी जो नित मेरी
आज पलक में वह आयी !
हुई प्रतिष्ठित मन–मन्दिर में
मूर्ति मधुर यह मनभायी !
अब चाहे बुझ चलें सदा को
मेरे नयनों के तारे !
ज्योतित रहें निरन्तर कोने
अन्तर के ये अंधियारे !

रूप नहीं देखा नयनों ने,
देखी है पल भर छाया,
बतलाये संसार कि इसमें
पाप कहाँ से घुस आया ?
परमेश्वर की भाँति छिपी ही
रहे पद्मिनी की काया !
केवल छाया ही पा उसकी
रहूं भक्त मैं भरमाया !!

छाया को लेकर ही जग में
इतने वाद-विवाद बने!
कौन धर्म है वह कि जहाँ यह
छाया ही अपवाद बने?
छाया-पथ पर मनुज-रथी यह
जीवन-रथ अपना लाया!
जगती के जीवन पर भी तो
छायी छाया की छाया!

जिस छाया से सदा जीव को
मर्त्यलोक में शोक मिला,
उस छाया से आज मुझे तो
जीवन में आलोक मिला!"
रत्नसिंह के नयनों में थी
दिव्य भावना की छाया—
'छाया में भटका यह मानव
आलोकित पथ पर आया!'

जौहर

बरसों का कर्कश मानस वह
बन-बन कर अनुताप गला !
ख़िलजी की पलकों से उस पल
जल छलका, बह-बह निकला !
बढ़ी भुजाएँ आलिंगन को
रतन बढ़े आगे, जकड़े।
धीर-वीर मानव के मन हैं
पवि-से कोमल, कुसुम-कड़े।

"शिर है मेरा यहाँ विनत यह
उठा सदा जो, पर न झुका,
क्षमा ! दया ! करुणा !" कहते ही
शहंशाह का कण्ठ रुका।
"छाया के दर्शन का नृपवर !
दूं मैं क्या प्रतिदान तुम्हें ?
भेंट करूँ यदि कहो प्रेम से
मेरे पापी प्राण तुम्हें !"

रत्न न बोले, हाँ, नयनों से
फैलायी कुछ दिव्य प्रभा,
विस्मित, भ्रमित, चकित, स्तम्भित-सी
बनी हुई थी राज-सभा।
"जीवन का रस अमर अलौकिक
यहाँ प्राण में आज भिदा;
चलो प्रेम-बन्धन यह दृढ़ हो
दो प्रिय मन से आज विदा।"

मस्तक झुका, पलक को झपका
पुतली में प्रार्थना भरे,
अंजलि बने हाथ वे उसने
रत्न-क्रोड़ में दौड़ धरे;
और लौट फिर, उठा चषक को
मुख में उसे उँड़ेल लिया!
शहंशाह! तुमने यह कैसा
इन्द्रजाल-सा खेल किया!

जौहर

आसन छोड़ उठी अलसायी
मद से वह भीगी काया !
स्वागत-उत्सव अभी हुआ था
अभी विदा-अवसर आया !
अभिवादन-अभिनन्दन जागे,
तन-मन में स्पन्दन जागे !
ख़िलजी के स्यन्दन के पीछे
चलने नव स्यन्दन जागे !

आगे थे सम्राट और नृप,
पीछे उनके सहचारी ;
वन्दीजन गा उठे कि 'जय हो'
'इस संगम की बलिहारी !'
लौट रही थी वह स्वर धारा
मृदुगति मधु-सरिता बनकर,
मना रहे थे राजमहल में
जन-मन मिल मंगल मनहर !

मंगल के मस्तक पर तो था
किन्तु अमंगल मँडराया !
खिलजी की बोयी लतिका में
फूल कहाँ था खिल पाया ?
जाल फेंक तमसा का पीछे
नीचे लो दिनकर सरका ;
और क्षितिज पर उदय होगया
पीत बिम्ब रजनीकर का !

ज्योंही दुर्ग-द्वार पर आये
रत्न बँधे अरि के छल में !
सहसा ही घिर गये वहाँ पर
छिपे हुए शाही दल में !
बँधी विपक्षी की बाँहों में
काया वह पावनप्राणा !
अपने ही सम्राट-अतिथि के
बन्दी बने महाराणा !

वाणी ! बोल न आज कड़ी तू
    खोल न अपनी ग्रन्थि कड़ी !
सत्पथ का साधक सहता है
    पग-पग बड़ी विपत्ति कड़ी !
विषधर-भक्षक शिखी बना जो
    आप उठेगा कूक कभी,
मूक व्यथा अपनी न जगा तू,
    उठा न उर से हूक अभी !

शुद्ध सरलता के पथ में हैं
    शत-शत बाधा-विघ्न पड़े;
मानव दुर्बल नहीं कि उनसे
    जीत न पाये यदि झगड़े।
जन-जन के अन्तर का देखे
    आज यहाँ जगती अन्तर !
पाप-पुण्य का, स्वर्ग-नरक का
    दर्शन-मनन करे जी भर !

—६७ छन्द—

पँचम ज्वाला

प्रत्यावर्तन

"निश्चय बन्दी बने आज मा,
    शत्रु-शिविर में पूज्य पिता!
पर तू कभी न करना माता!
    आँखें अपनी जल-भरिता।
ला, मा! आज समर का मेरे
    इस तन पर पहना बाना,
उन्हें छुड़ा लाऊँ, क्या तूने
    कायर पूत मुझे जाना?

मैं न अकेला हूं मा, मैं हूं
और साथ हैं दस दादा!
कैसी भी हो रोक सकेगी
भला हमें कोई बाधा ?"
यों बातें सुन-सुनकर सुत की
हुई पद्मिनी प्यार-विभोर,
मस्तक सूँघ, अङ्क में भरकर
लगी देखने उसकी ओर।

"मेरे लाल !" और फिर बोली,
"तुम सच्चे सपूत मेरे।
उन्हें हरा आते ही होंगे
अब तो पूज्य पिता तेरे!
और समय आया तो बेटा!
तुम भी रण में जाओगे!
कहो, कहो क्या तलवारें ले
लड़ने में घबराओगे ?"

"नहीं, नहीं मा, घबराने की
 कैसी तूने बात कही!
कथा न बाप्पा की भूला हूँ
 जो थी तूने रात कही!
मा! लड़ने की बातें कितनी
 लगती हैं मुझको अच्छी!
कह मा, कह क्या इतनी ही वे
 लगती हैं तुझको अच्छी?"

"हाँ, हाँ, लाल!" और फिर मा ने
 बेटे का चूमा मस्तक।
"लाऊँ केसरिया बाना मैं,
 जाओ तुम खेलो तबतक।"
भाग गया क्षत्रिय बालक वह
 सूना मा का वक्ष बना,
देख जिसे सुरपुर से सुर भी
 हो जाते हैं मुग्धमना!

जौहर

धन्य-धन्य है वह जननी जो
ऐसे पुत्र प्रसव करती।
गा-गा मधुर लोरियाँ उनमें
भाव वीरता के भरती।
शैशव से ही उन्हें सिखाती
प्राण निछावर कर देना,
तभी उन्हें आता है रण में
बैरी से लोहा लेना!

छू-छूकर मन में बेटे के
बोलों की पल्लव-माला
जाग उठी मा के प्राणों में
क्यों प्रतिशोधों की ज्वाला?
पलकों की पुतली लो पल में
धधक उठी अंगार बनी।
अलकें बनी व्याल की माला,
साँस चली फुंकार बनी!

और तभी आ पत्र दे गयी
दासी एक मुक्तकेशा;
राजदूत आया लाया है
ख़िलजी का यह सन्देशा !
जिसके छल-बल से, कौशल से
प्राण छले उसके अपने,
उसका क्षीर-पान भी उसको
क्यों न हलाहल आज बने ?

"जिसके लिए बिताये मैंने
दिन दुर्भर, रातें सूनी !
जिसके बिना वेदना जी की
होती है पल-पल दूनी !
जिसके लिए हरम में मैंने
रम्य रमणियों को छोड़ा !
जिसके लिए सल्तनत के भी
सुख से मैंने मुख मोड़ा !

जौहर

जिसको अपनाने जीवन के
इन शूलों को फूल किया !
जिसको भाल चढ़ाने भव के
सब रत्नों को धूल किया !
जिसको पी-पीकर मरने को
मैंने जग का गरल पिया !
जिसको छू-छूकर जीने को
शिर पर पर्वत प्रबल लिया !

वह तुम रमणी-रत्न रमीं जो
मेरे मन में रमा बनी,
जिसकी स्मृति से घिरा हुआ मैं
जैसे अम्बर से अवनी,
जिसके छवि-चिन्तन में मेरी
घड़ियाँ युग-सी बीती हैं !
जिसे न पाकर आँखें मेरी
पल–पल आँसू पीती हैं !

वह तुम मेरी प्रणयिनि ! पद्मिनि !
अब हो मानों सुलभ बनी !
आओ, कण्टक दूर हुए सब
हो जाए युति अब अपनी।
कान्त तुम्हारे बद्ध हुए अब,
होंगे सब सेनानी भी !
पाशबद्ध हैं जब राणा तब
मुक्त रहे क्यों रानी भी ?

जाओगी अब तख़्त छोड़कर
ख़िलजी से मुख मोड़ कहाँ ?
आओ, स्वागत में सज्जित है
यह वैभव का क्रोड़ यहाँ !
उर-सिंहासन सजा-धजा यह
शून्य तुम्हारे बिना पड़ा !
यह विशाल सल्तनत छोड़कर
आकर्षण है कौन बड़ा ?

जौहर

शाही हरम सजे सुंदरियों
की जब तुम सरताज बनो !
पद्मिनि, इन आकुल प्राणों का
आओ, आश्रय आज बनो !!
कर मेरा यह पार्श्व सुशोभित
आज तुम्हारा भाग्य जगे !
राज्यश्री मुझ शहंशाह की
तन्वि, तुम्हारे पाँव लगे !!

उस दिन शीशमहल में पद्मिनि !
देखी थी जिसकी छाया,
आओ, आभूषण हो मेरा
आज तुम्हारी वह काया !"
ज्योंही उस ललना ने विह्वल
पत्र शाह का पढ़ पाया,
त्योंही क्रोधित हो भयंकरा
चण्डी बनी वीरजाया !

उबल उठा शोणित अंगों का
पुतली में उतरी लाली,
काली बनी स्वयम् वह बाला
अलक-अलक विषधर व्याली!
बढ़कर तन के रोम-रोम में
धधक उठी दृग की ज्वाला
अंगारों में फूट पड़ी वह
उसके रग-रग की ज्वाला—

"पाप-शाप अब तो असह्य है
कुटिल प्रवञ्चन यह तेरा!
मुझे जान पड़ता है मानों
तुझे आज यम ने घेरा!
अरे नराधम! नहीं जानता
है तामस दुःसह मेरा!
हो जायेगा भस्म कि जिसमें
राजपाट सब यह तेरा!

जौहर

मैं वह ज्वाला हूं कि यहाँ जो
स्वतन्त्रता – व्रतधारी हैं,
वे सब मेरे ही शोले हैं,
मेरी ही चिनगारी हैं!
मैं वह चण्डी, असिधारी ये
जिसके परम पुजारी हैं,
मैं स्वतन्त्रता शत-शत अनुचर
जिसके संगरचारी हैं!

स्वाभिमान की अमर ज्योति में
तू तम-सा बनकर आया!
छू न सकेगी मुझको तेरी
तमसामय कलुपित काया!
मैं वह उपा कि जो जग में है
जागरूकता की जननी,
उसे छुएगी तारक-कर से
क्या तेरी सेना-रजनी?

मैं वह ज्योति-विभा हूं जिसकी
छाया ही विक्रान्त अरे,
अन्धकार-सा बन आया तू
मिटने को उद्भ्रान्त, मरे !
काया यह मेरी कृत्या है,
तू यदि अत्याचार-अनय !
तू हो मृत्यु, सुधा पी-पीकर
आज बनी मैं मृत्युञ्जय ।"

धीरे से उसके कानों में
आ कह गया समीर—"सुनो,
ठहरो, यों न अधीर बनो तुम,
मनन करो, गुण-दोष गुनो !
अभी आप मैं ही जीवित हूँ
पिंजरे में पञ्चानन-सा;
प्राण न अपना अभी लुटा दो
जगती में दुर्लभ धन-सा !

तुम हो साधनमयी, करोगी
  संगिनि, क्या न स्वतन्त्र मुझे ?
सूझ रहा है एक तुम्हीं में
  आज मुक्ति का मन्त्र मुझे !"
सुनी पद्मिनी के प्राणों ने
  प्राणनाथ की यह वाणी ;
अन्तर को थी मन्त्र दे रही
  यों स्वतन्त्रता कल्याणी—

"सजग-सचेतन बनो शुभे, तुम
  खोजो मंगल पथ अपना ;
उत्तेजित न बनो पर पल भर
  बनो शांत विक्रान्तमना !"
जनपद के जीवन में ज्योंही
  खिलजी का सन्देश गया,
आहुतियाँ पा प्रतिहिंसा का
  कालानल जल उठा नया !

कुटिल हुए भ्रूचाप पलक में
　　और आग के तीर जमे,
खिंचे रोष की प्रत्यंचा पर
　　जिनसे बिंधे शिला सहमे—
"अपनी इस कुंचित गति से अब
　　अहि, तू हमें चला डसने !
एक प्रहार गिरा दे पल में
　　दाँत सभी ये गरल-सने !

भला पद्मिनी को देकर अब
　　गौरव का विक्रय होगा ?
होगा तो अब तो प्राणों का
　　प्राणों से विनिमय होगा !
फिर से वसुन्धरा के उर पर
　　चण्डी का नर्तन होगा !
रक्त-प्रलय होगा, फिर असि का
　　असि से संघर्षण होगा !

पुण्य और पातक का रण में
    अब अन्तिम परिचय होगा!
अब पावन प्राणों का जीवन
    स्वतन्त्रता में लय होगा!
यद्यपि रिपु-छल-बल का बन्दी
    आज हमारा नेता है,
पुण्य और पातक दोनों में
    पुण्य, परन्तु, विजेता है!

हम थोड़े हैं तो क्या होगी
    शत्रु-चमू हमसे सबला?
चिनगारी लघु भी देती है
    पुष्कल इन्धन-जाल जला!
सूर्य-चन्द्र हों त्रस्त गगन में
    उथल-पुथल यों मचे अभी!
व्योम काँपने लगे धरा पर
    घोर समर फिर रचे अभी!

उन्हें छुड़ाने को संगर से
शोणित के सागर भर दें।
वैरी की सेना सब उसमें
नौका-सी निमग्न कर दें।
हम सबका जीवन नेता की
रक्षा में जुट जाय भले;
हमसे रत्न न छुटे हमारा
और सभी छुट जाय भले।"

क्षत्रिय वीरों की सेना का
था गोरा अब सेनानी,
रण में निर्भय बलिदानी था,
था प्रण का रक्षक मानी।
उसको देख मलिन होती थी
विकल शत्रु-सेना-रजनी।
उसकी खड्ग रुधिर पीती थी
क्रुद्ध कालसर्पिणी बनी।

जौहर

सधी हुई किसके कर में यह
असि-लेखिनी रक्त-लेखा ?
खींच रही है वह वाणी से
निज कुल की गौरव-रेखा—
"विजयी रहो, क्षयी न समर में,
हे मृत्युञ्जय क्षात्रव्रती !
मर कर भी तो अमरपुरी में
वरण करेगी मुक्ति-सती !

युग-युग तक अविराम अनश्वर
इस वर्त्ती की ज्योति जले !
भरता रहे अथक जीवन-रस
यों स्वतन्त्रता-दीप पले !
देश-वेश की गौरव-गरिमा
अबतक सदा अशेष रही !
प्रेय रहे प्रतिपल प्राणों-सी !"
मेरा है सन्देश यही !

आगे बढ़ गोरा वीरों से
बोला उठी कृपाण लिये—
"वीरो, युग-युग तक क्षत्रिय का
अमर आत्म-अभिमान जिये !
मैं कहता हूं वही करो यदि
तर्क-तुला पर मत तोलो,
सुधा सिद्ध होगी यह सचमुच,
इस रस में विष मत घोलो !

घोषित करो आज जन-पद में
आज करो तुम लाज नहीं !
चमकाये चंचला न सेना,
आज गिरेगी गाज नहीं !
आज हरम को चले पद्मिनी
अपना राजमहल तजकर !
और अकेली नहीं सात सौ
सहचरियों से सजधज कर !!

आज सात सौ शिविकाएँ मिल
यह मंगल अभियान करें।
अस्त्र-शस्त्रधारी हो दूने
सैनिक साथ प्रयाण करें।
और सभी इन शिविकाओं की
वाहक मिलकर बने प्रजा।
चलो विलम्ब न हो पल भर भी।"
—वह पञ्चानन बन गरजा।

अश्वारोही एक वाण-सा
शत्रु-शिविर की ओर उड़ा,
और इधर विस्मय-विस्फारित
जन-नयनों का व्यूह जुड़ा।
विकल शाह के आहत उर को
उधर मधुर पीयूष मिला।
तन-सुख का पराग पाने को
मानों मन का मुकुल खिला।

किन्तु हृदय का शोक गया तो
मन का सारा ज्ञान बहा!
अन्धा हुआ पुलक में पापी,
तनिक न तन का भान रहा!
वर्षों की वह विषम यातना
मंगल-आशा आज बनी—
"देख रहा हूँ अभिनन्दन में
खड़ी विजय--लक्ष्मी अपनी!"

और उधर उस राजमहल में
शिविकाएँ आ जुड़ीं सजी;
जिनमें 'झनझन' करवालें या
पायल की झङ्कार बजी?
हैं यह क्या, यह क्या ललनाएँ
सजधज जा बैठीं उनमें!
यह कैसा आयोजन पद्मिनि,
'उन्हें' छुड़ाने की धुन में?

जौहर

आज शाह का हरम सजाने
जाती है पद्मिनी अहो!
किधर गयी क्षत्रियो! तुम्हारी
असि वह रणरागिनी कहो?
गर्व और गौरव के रक्षक
तुमने यह स्वीकार किया!
तुमने आज अङ्गनाओं का
बाना अङ्गीकार किया?

दारुण दुख भी सहे रत्न ने
किन्तु न गौरव-गर्व दिया,
प्रथम परीक्षा में ही तुमने
उस गौरव को खर्व किया!
जीवन का क्या मूल्य अतुल था
जीवनधन के साथ तुम्हें?
आज बना प्रिय लाज बेचना
क्यों परजन के हाथ तुम्हें?

चली जा रही है वीरों की
हार बनी वे शिविकायें,
शस्त्रों से सजधज चलते हैं
शूरवीर दायें – बायें;
धोती मधुर मिलन के सुख से
दुःस्वप्नों का दुख सारा
शहंशाह के मानस में यों
बहती थी चिन्ता–धारा—

"जिसके लिए यहाँ दुनिया की
खाक छानता मैं आया,
बरसों बाद आज है मैंने
उसी पद्मिनी को पाया!
शत-शत शूरवरों की सेना
कितनी बार यहाँ लाया!
किन्तु आज से पहले मैं था
उसको विजित न कर पाया!

जौहर

जिसके लिए विभीषण रण में
शोणित का सागर लहरा,
मिल न सका मोती वह अबतक
डूबा मैं कितना गहरा !
पर, इस बहती रक्त-नदी का
आज निकट संगम आया !
आज उसी के अभिनन्दन में
मेरा सागर लहराया !

तो फिर आज गर्व से क्षण भर
दुहरा लूं प्रण क्यों न महान ?—
'होगी या तो प्राण पद्मिनी,
या न रहेंगे पामर प्राण !'
उसकी अथक साधना में मैं
बना रहा अबतक योगी !
मैं भारत-सुलतान, बनूँगा
अब मैं उसका रस-भोगी !

अब प्रणयाप्लावित हूँगा मैं
मधु स्वर-धारा में बह-बह।
अब होगी रसमय यह रसना
उसे 'प्रिये। प्रेयसि।' कह-कह।
मुग्ध हुआ पद्मिनी–सुरभि पर
कबसे यह मन का मधुकर।
या परवरदिगार। अब होगा
उस मधु से सिंचित अन्तर।

आज दुखी जीवन के मेरे
अन्तर्धान अभाव हुए।
और सभी बिगड़ी बातों के
पूरे आज बनाव हुए।
इन्हीं पुतलियों से देखूँगा
स्वर्ग उतरता मैं भूपर।
हँसी उड़ाने को जन्नत की
देखूँगा फिर मैं ऊपर।"

राजदूत आया सहसा ही,
टूट गया दिन का सपना !
विपुल पुलक का भार भर गयी
आशा की कलना अपना !—
"शिविकावली खड़ी है बाहर
अभिनन्दन की माला-सी !
हा, पराग बन गयी रागमय
आज पद्मिनी ज्वाला-सी !

जो इस माला की सुमेरु है,
जो है फूलों की माला !
जो नन्दन से गिरा फूल है,
जो भू पर नन्दन-बाला !
वह पद्मिनी आज हो जिसकी,
वह जीवन में बड़भागी !
कुछ क्षण का अवकाश उसे क्या
दे सकते हो तुम त्यागी ?

जिसके साथ रहा छाया-सा,
ज्योतिर्मय जिसका जीवन,
उससे क्या न मिले वह पल भर
करे क्या न अंतिम दर्शन?
कहलें-सुनलें आज घड़ी भर
वे निज जी की विषम व्यथा;
फिर तो दर्शन भी हैं दुर्लभ,
पुनर्मिलन की कौन कथा?"

पराजयों के विषम शोक में
छिपा विजय का हर्ष लिये,
आशा और निराशाओं का
अन्तर में संघर्ष लिये,
रुक-रुक कर, कुछ ठहर-ठहरकर
'हाँ' अपनी दे सका उसे,
पल-पल भी युग-सा चुभता है,
जो जीवन से थका उसे!

जौहर

रत्न-शिविर में घुसी पद्मिनी
विद्युत या घन के तन में !
इधर सुलगने लगी चिता-सी
शंका खिलजी के मन में !
विषम कल्पना-रथ पर जैसे
चित्त-रथी चिन्ता-पथ पर,
उठता-गिरता रहा निरन्तर
शाह ज्वार-भाटे सहकर।

धीरे-धीरे सरके कुछ क्षण,
बीत चुकी जब एक घड़ी
युग-युग बनी, दुरन्त हो उठी,
प्रेम-मिलन की अवधि बड़ी !
रह न सका अब, सह न सका वह
रत्न-पद्मिनी का मिलना;
बस बरबस जा घुसा शिविर में
सिंह-गुहा में हरिण बना !

देखा उसने वहाँ सामने
अन्तक स्वयं समक्ष अड़ा।
थी न वहाँ पद्मिनी, वहाँ था
गोरा-सिंह सशस्त्र खड़ा!
जड़ा रह गया मूर्ति बना वह,
तन जैसे पाषाण बना!
झंझा के झोंके में कंपित
लघु पल्लव-सा प्राण बना!

देख रत्न को लिये हाथ में
काल—सर्पिणी के फन-सा,
तन सब पीत—विवर्ण पड़ गया
भय से क्षय-जर्जर जन-सा!
मरण देख सम्मुख ही मुख ने
एक करुण चीत्कार किया!
आज सत्य ने छिन्न--भिन्न वह
सब कल्पित संसार किया!

जो तन के पीछे-पीछे थी
घूम रही बन-बन छाया,
अब छाया-सी लौट रही थी
खिलजी की मूर्च्छित काया !
वहाँ शत्रु-सेना ने उस पल
देखी एक महा माया—
अस्त्र-शस्त्रधारी क्षत्रिय थी
एक – एक कोमलकाया !

इन्द्रजाल से बँधा सत्य हो
जैसे पल भर में सपना,
वहीं सात सौ योद्धाओं का
दुर्जय एक अनीक बना !
एक-एक शिविका के रक्षक
थे दो-दो आयुधधारी ;
वे सब अब इंगित पाते ही
पल में हुए समरचारी !

जौहर

एक बार फिर उस धरती पर
घोर समर का नाद उठा !
उठा उधर चीत्कार करुणतम,
इधर मुक्त आह्लाद उठा !
एक बार फिर वहाँ छिड़ गया
पाप-पुण्य में संघर्षण !
नाच रहे थे, देखा जन ने,
क्षण-क्षण जीवन और मरण !

विजय-गर्व में शिथिल बनी जो
सेना वह कैसे सँभले ?
क्षत्रिय का दल-बादल जिस पल
बरसाता-सा प्रलय चले !
रत्न और उसके मणि-माणिक
लौट चले बनकर विजयी !
हार अलाउद्दीन रह गया
लेकर तन-मन-प्राण क्षयी !!

दूर हुई यों शशि-मण्डल से
अशुभ राहु की वह छाया!
दिवस बिता मेवाड़ दुखों के
नींद सुखों की ले पाया!
मधु उत्सव उस भीषण रण के
घावों का लेपन लाया!
दिन का कर्कश सत्य भुलाता
रजनी का सपना आया!

— ५८ छन्द —

षष्ठ ज्वाला

उत्सर्ग

नीरव बन न अभी तू रे मन !
सह ले अभी अशेष व्यथा !
शिथिल न बन तू अभी लेखिनी !
कह ले अपनी शेष कथा !
यह जो इतना रक्तपात है
खोज कि उसकी भूल कहाँ !
छाया जो विष-वृक्ष धरा पर
खोज कि उसका मूल कहाँ ?

कहाँ छिपा है कुटिल कीट वह
जिसने जर्जर धर्म किया ?
अरे, कहाँ है वह कुभावना
जिसने पुण्य कुकर्म किया ?
किस घट में रस भरा धरा वह
जिससे विष है आज सुधा ?
रे, वह कौन दनुज है जिससे
बनी नरक-सी यह वसुधा ?

× × × ×

नवयुग आया और पुरातन
कालसिन्धु में डूब गया !
वैभव की धूली पर छाया
शोभा-श्री का साज नया !
आये प्रात-प्रदोष अपरिमित,
दिन बीते, बीती रजनी,
शत-शत बार धुरी पर अपनी
घूम गयी भरणी धरणी !

खिले फूल फिर, मधुकर डोले,
भूमा हुई वसन्तमयी !
नव-नव पल्लव पले विटप में
फूलीं कलियाँ नयी-नयी !
बार-बार भूमण्डल ने की
देव अरुण की परिक्रमा !
गयीं कई राका-विभावरी,
श्यामा-शुक्ला और अमा !

किन्तु न भूला शाह पद्मिनी,
और न वह भूला चित्तौर ;
और न वे आहुतियाँ अपनी
भूला रत्न शूर-शिरमौर !
भूल सका सम्राट् न पल भर
मर्मव्यथा का वह आघात ;
किसी विजय की उषा देखने
रहा बिताता वह दिन-रात !

पाप–वासना की चिनगारी
पाकर वे घृत-आहुतियाँ
धधक उठी प्रतिशोध--अनल सी,
दाहक हुईं करुण स्मृतियाँ !
एक उषा में, इसी दिशा में
खिलजी का अभियान जगा !
वर्तमान के मर्म–हृदय में
फिर अतीत का बाण लगा !

"नरभक्षी यह अनल समर का
कब प्रशांत होगा भगवन् !
कब यह विश्व शान्ति-छाया में
स्नेहस्नात होगा मधुवन ?
क्षय होगी कब यह जय-लिप्सा,
शोणित-तृषा मदोन्मद की ?
कब होगी अब भला तिरोहित
छाया शिर से आपद की ?

बुझी न वह ज्वाला संगर की
नयी लपट फिर उठ आयी।
क्या जल-जल बुझने को उसने
अभी न पूर्णाहुति पायी?
अभी और बनना होगा क्या
हमें यज्ञ के ही होता?
फूटेगा तेरे उर से कब
भूमा! करुणा का सोता?"

अन्धकार से भरी निशा में
निज दुख-शय्या पर सोये,
रत्नसिंह थे यों इन दुख के
सपनों में खोये-खोये!
देखा, प्रकट हुई है सहसा
एक देवता मूर्तिमती!
अभिवादन में हाथ जोड़कर
नतमस्तक था क्षात्रव्रती!

बोले—"सीसोदिया वंश की
वन्दनीय मा, कुलदेवी !
देवि ! रहा मेवाड़ राजकुल
सदा तुम्हारा पद-सेवी
शिरोधार्य आदेश तुम्हारा
स्वयं स्वयम्भू से बढ़कर ;
एक तुम्हारे इंगित पर ही
वीर यहाँ मर हुए अमर !"

चमक उठे तारे नयनों के
लाल-लाल अंगारों-से,
लपटें लगीं धधकने आठों
हाथों के हथियारों से
"मैं आयी भूखी-प्यासी हूँ !"
यों देवी के ओठ हिले,
"दूँगी मैं वरदान कि पहले
मुझको भोजन-पान मिले !"

चरणों पर मस्तक को धरकर
स्वर में विनय अपार लिये;
रत्न निवेदित हुए स्वयं ही
प्राणों का उपहार लिये—
"तुम्हें तृप्त करने मां! हमने
वीरों का बलिदान किया!
जगती के दुर्लभ रत्नों ने
रण में जीवन-प्राण दिया!

नहीं दिया क्या हमने अपना
रक्त तुम्हें अञ्जलि भर-भर?
प्यास मिटेगी अब क्या पीकर?
भूख कौन सी बलि लेकर?
दुर्लभ नहीं हमें है कुछ भी
स्वर्ग में कि पातालों में!
देवि, न उलझाओ तुम हमको
इन व्यंगों के जालों में!"

बोली देवी— "राजरक्त दो,
तो मेरी यह प्यास बुझे।
शत-शत शूर न दो बलि में, दो
बारह राजकुमार मुझे।
यदि इस भावी यज्ञ-समर में
पुत्र चढ़ा दो तुम अपने,
अजर रहे यश सदा तुम्हारा,
राजवंश यह अमर बने।"

पल भर को नृप की पलकों के
तारे धूमिल हुए, मिंचे,
पुतली की लघु चित्रपटी पर
भीषण चित्र विराट खिंचे।
जीवन भी नैवेद्य बना है,
प्राण आरती का दीपक।
झुका रह गया कुलदेवी के
चरणों में उनका मस्तक।

ओर स्वप्न टूटा राणा का
मन में दुर्जय भय जागे !
खिंची नयन में थी भावी की
विकल रूप-रेखा आगे !—
"कैसे कहूं प्रिया से यह मैं
जब मेरा ही जी दहला ?
कैसे सहे भार गिरि का यह
मा का कोमल हृदय भला ?"

पर मा के कोमल उर में तो
जलती थी गौरव-ज्वाला !
वही तरल होता है उर में
जिसने लपटों को पाला !
सुना पद्मिनी ने तो बोली—
"मैं हूं जग में बड़भागी !
मेरा ही उपहार माँगने
जो सोयी देवी जागी !

मातृ-भूमि की तन-रक्षा में
 शत-शत ये लघु लाल जुटें !
इस आँधी के अन्धकार में
 किन्तु न ये गुरु भाल लुटें !
चढ़कर चरणों की पूजा में
 प्राण-पुत्र भी धन्य बने !
सफल बने मातृत्व विफल यह,
 पावन मेरा स्तन्य बने !"

उषा-किरण का शर पा मानो
 अन्धनिशा का मोह फटा,
उठा क्षितिज से अरिदल-बादल
 घिरी शीश पर घोर घटा !
क्षत्रिय को तो प्रलय-घटा भी
 मंगलमूल वितान बने !
भला स्वर्ग के दूत समर से
 प्राण छिपायें वे अपने ?

भू-वन्दन का मिला निमंत्रण;
हुए शस्त्रयुत बलिदानी !
गाथाओं के राग गा उठी
जाग्रत होकर कवि-वाणी !
वर्ती हुई स्वयम् प्राणों की
स्वाधीनता प्रकाश लिये !
अमर मुक्ति का दान बाँटती
नश्वर तन का नाश लिये !

शैल-शिखर पर खड़ी गरजकर
यों पुकारती थी ऊषा—
जिवित मृत्यु तजो यह जड़ता ;
जागो, सजो समर-भूषा,
अरुण मुसकराता कहता था—
"बढ़े चलो तुम मुसकाते ;
देखूँ मैं पग-पग, पल-पल पर
तुम्हें विजय का वर पाते !"

कहती मातृभूमि थी उनसे
मानो बजा-बजा भेरी—
"लुट न जाय वैरी के आगे
शूरवरो ! लज्जा मेरी !
आत्मार्पण को छोड़ तुम्हारा
हो न दूसरा लक्ष कहीं !"
और रत्न ने सेनापति को
कहते सुना समक्ष वहीं—

"आज्ञा हो, अब फिर सेना के
सजने का हो आयोजन !"
"हाँ, हाँ, भूखी है कुलदेवी
प्रस्तुत हो उसको भोजन !
बस अब चिन्ता नहीं, प्राण से
यह जीने का मोह छुटे !
और समर हो, पुण्य-यज्ञ में
पापों का सब हव्य जुटे !

आहुतियों में आज जुटा दें
होतागण निधियाँ सारी !
होगी तृप्त आप ही रण की
रक्त-तृषा यह हत्यारी !
प्राणाहुति देने में मन में
डरते हैं कब वीर व्रती !
ललनाएँ भी होतीं उनके
साथ सदा सोल्लास सती !

सच्चे शूर प्राण-धन देकर
मोल वीरगति लेते हैं !
असि की वल्ली से हम क्षत्रिय
'साका'-नौका खेते हैं !
काया को खोकर करते हैं
हम अपने यश का सर्जन !
प्राणों को व्यय कर करते हैं
हम अपना गौरव-अर्जन !

जौहर

प्राण भर रहा प्राणार्पण का
जिसका वातावरण अमल,
सच्चा मरना सीखे जिसका
खाकर अन्न, पान कर जल
सुरवन्द्या मा के चरणों में
मरने का सौभाग्य मिला,
जिसे क्षुद्र जीवन में, समझो
उसी मनुज का भाग्य खिला !

तो फिर क्या है समर-भूमि में
सजे आज फिर से सेना !
एक बार फिर और हमें है
वैरी से लोहा लेना
अमर शहीदों के शोणित से
रञ्जित है जिसका कण-कण
अरिगण के दुर्द्धर्ष पदों से
हो न कहीं उसका मर्दन

अगणित प्राण इसी धरणी पर
गौरवहित बलिदान हुए!
कण-कण में इसके प्रविष्ट वे
उसके गौरव-गान हुए!
इसके स्वर-स्वर में अन्तर्हित
वे अकलुष आख्यान हुए
पत्थर-पत्थर पर अङ्कित वे
सब बलिदान-विधान हुए।

उन्हें जगा अब पुनः दिखा दो
विस्मित जगत इधर देखे,
ताण्डव आज प्रलय का दृग से
शंकित जगत इधर देखे;
औरों को जिसके पाने में
सहनी पड़ती है विपदा
क्षत्रिय को है वही अमरता
समरभूमि में सुलभ सदा!

जाग्रति के आश्रय जीवन में
मत अप्रेय जड़ता पालो।
इस बहती गंगा में वीरो,
हाथ, न चूको, धो डालो!
आज हमारी अमर कथा का
एक नया अध्याय खुले!
आज मृत्यु-जीवन जीवन में
खेलें दोनों मिले-जुले!"

एक बार फिर पुनः वहाँ पर
जूझ पड़े दो दल-बादल,
एक बार फिर लगा बरसने
भू पर वहाँ प्रलय पल-पल!
एक बार जल धधक उठी फिर
समर-यज्ञ की वह ज्वाला,
जिसमें हँस-हँसकर शूरों ने
होम देह को कर डाला!

एक बार फिर असि-रसनाएँ
करने लगीं लहू का पान,
एक बार फिर और बन गयी
रक्त-रँगी रण-भूमि श्मशान!
संख्यातीत हताहत सैनिक
आह! करुण भर आह उठे
थर्रा उठा परुष नभमण्डल,
दिग्गज दसों कराह उठे!

और अचानक कोलाहल पा
मुखर हो उठा राजमहल!
राजपुत्र आये धारण कर
तन पर रण-भूषा मंगल!
भर-भर अपने आलिंगन में,
मन में करुणा-कल्याणी
बोली उन अपने लालों से
माता प्राण-प्रदा वाणी—

"जाओ, लालो युद्ध-क्षेत्र में
वैरी से लड़ने जाओ!
जाओ, अमर सपूतों की सी
समर-कुशलता दिखलाओ!
जिसकी रज में लोट-लोट तुम
खेल-खेलकर बड़े बने,
दलित उसी भू को करने हैं
आये आज शत्रु इतने!

उसकी रक्षा में अब पुत्रो!
तुम्हें उठानी असि होगी,
आज पूर्वजों से तुम सब भी
जाओ बनो कर्मयोगी!
लालो! मुझसे भी बढ़कर इस
मातृ-देवता को मानो;
'स्वर्गादपि गरीयसी' इसकी
पुण्य - रेणु को पहचानो!

इसके कण-कण की रक्षा में
मरना भी है जी जाना !
मर-मरकर भी आज समर में
तुम्हें अमरता है पाना !
आज स्वर्ण से खरे बनो तुम
रणधारा में मज्जित हो !
स्मरण रहे लालो !—संगर में
दूध न मेरा लज्जित हो !

जाओ, जूझो धर्म-समर में
बने कर्म का पथ उज्ज्वल !
अकुशल भी हो कुशल समर में,
बने अमंगल भी मंगल !
जाओ क्षण-क्षण पर अब रण में
तुम्हें वधू-सी विजय मिले !
देह समर्पित हो पर मुख पर
मुक्ति-मिलन का हास खिले !

जौहर

रणचण्डी को राजकुमारों
का वह कोमल प्राण मिला !
कुलदेवी के रिक्त पात्र को
विपुल रक्त का दान मिला !
घृत पी-पीकर मातृभूमि की
पूजा का वह दीप जला !
अब भी क्या न मिलेगा उनको
पावन विजय-प्रसाद भला ?

धरती पर ही जो वीरों ने
आज मुक्ति का यज्ञ रचा,
हवि बनने को राजपुत्र अब
एक पञ्चवर्षीय बच्चा !
जिसका कोमल बोल हठीले
पत्थर को भी मोम करें !
वह शिशु भी क्या आज समर में
निज जीवन को होम करे ?

आगे बढ़ आया बिजली ले
बादल एक वीर बालक
बोला,—"बस इस बार नहीं यह,
मैं हूँगा रण-सञ्चालक।
इसको भी अब भेज समर में
हम न करेंगे भूल बड़ी।
नहीं देखते राजवंश की
लतिका यह निर्मूल पड़ी।

रक्षणीय है, इसे न भेजो
रण में, है यह हन्य नहीं;
इस शिशु को अब स्पर्श कर सके
अरि की नीति जघन्य नहीं।"
वहीं छिपाया गया कहीं पर
वह उनका भावी राजा,
फिर सबने बादल के तन पर
केसरिया बाना साजा।

जौहर

बादल ऐसे लड़ा प्रलय का
जैसे स्वयम् प्रणेता हो
महाकाल का अथवा कोई
महाकृती अभिनेता हो।
रिपुदल-बादल चीर खड्ग से
बना विपद् का बादल-सा
वैरी के उस गहन विपिन में
धधक उठा दावानल-सा।

उसके मन में एक ध्येय बस,
एक लक्ष्य प्राणार्पण था!
एक तड़प थी, एक लगन थी,
और एक पागलपन था!
एक घड़ी लड़ उसने अपनी
मृत्यु सशंकित कर डाली,
उसको ही तब अस्त कर गयी
असि उसकी पानीवाली!

मृत्यु वीर बादल की सुनकर
गोरा बना सशोकमना
आयुध ले दोनों हाथों में
आया अब अग्रणी बना
और मचाया रण-आंगन में
यों उसने रेला-पेला !
शत-शत को भी मार गिरा वह
अपने प्राणों पर खेला !

शूरवरों को मिली वीरगति
नये-नये आगे आये,
सबने जीवन भर के सीखे
सङ्गर-कौशल दिखलाये !
शीश कट गिरा समर-भूमि में
पल भर भी वह पर न झुका !
पूजा के आरती-दीप में
संचित जीवन-स्नेह चुका !

जौहर

स्वतन्त्रता के पुण्य चरण में
और न जब उपहार बचा,
तब प्राणों की समिध जुटाकर
'जौहर' व्रत का यज्ञ रचा!
पहन लिया वीरों ने अपने
तन पर केसरिया बाना!
गाने लगे उच्च स्वर से फिर
अमल अमरता का गाना—

(प्रयाण–गीत)

बढ़े चलो, लड़े चलो!
प्रशस्त पुण्य-पंथ में प्रदीप्त हो बढ़े चलो!

(१)

रुको न मोह-जाल में
समुद्र-से गँभीर हो!

विपत्ति-व्रात-चक्र रोक
लो कि शैल धीर हो।
अभेद्य अंधकार चीर
दो कि भीम भानु हो!
अहो, अमित्र तूल-जाल
के लिए कृशानु हो!
प्रशस्त पुण्य-पंथ में प्रदीप्त हो बढ़े चलो,
बढ़े चलो, लड़े चलो!

(२)

अडोल शत्रु-शैल हो!
बनो प्रचण्ड वज्र-से!
मयंक-भानु-से बनो
कि शत्रु-राहु क्या ग्रसे?

रहो न रंक धन्वियो !
पड़े कलंक-पंक में
चढ़ो अशंक निष्कलंक
स्वाभिमान-अंक में
प्रशस्त पुण्य-पंथ में प्रदीप्त हो बढ़े चलो,
बढ़े चलो, लड़े चलो !

(३)

अजेय-अप्रमेय हो,
सुराभिनन्दनीय हो !
स्वधर्म ध्येय–श्रेय,
कर्म प्रेय, वन्दनीय हो !
मलीन हो, विलीन हो
न प्राण की पुनीतता,
खड़ी समक्ष ही तुम्हें
बुला रही स्वतन्त्रता !
प्रशस्त पुण्य-पंथ में प्रदीप्त हो बढ़े चलो,
बढ़े चलो, लड़े चलो !

ज्वालामुखी उगल देता है
जैसे अन्तर की ज्वाला,
फन फैला फुंकार भयंकर
करती है विषधर-माला,
छू-छूकर अपनी लपटों से
धधक क्रोध का अनल जला,
पाकर जिसका ताप शत्रु की
सेना का सागर उबला !

तन में ले उन्मद प्राणों को,
प्राणों में बलिदान लिये,
बलिदानों में लिये अमरता,
जड़ जीवन का मान लिये,
जूझ पड़े तब क्षात्रव्रती सब
समर-राग के अनुरागी;
मर-मरकर भी अमर होगये
वे जीवन में बड़भागी !

जौहर

उस संगर-पथ से जब सुरपुर
पहुँच चुके साथी-संगी!
पूर्णाहुति बन हवनकुण्ड की
कूद पड़ा वह रण-रंगी!
तन को पूजा—कलश बनाया,
कण्ठहार ही मन अपना,
स्वतन्त्रता के पुण्य चरण में
प्राण स्वयम् नैवेद्य बना!

महलों से पद्मिनी चली लो
शुभ सुहाग-शृंगार किये,
गौरव-गंगा की गोदी तक
अपना यह अभिसार लिये!
वीर अंगनाओं को अपना
शील-अपहरण मरण बने!
उनके लिए क्यों न काया की
अग्नि-परीक्षा शरण बने!

मातृमूर्ति जो अग्नि-चिता के
　　मन्दिर में थी प्रतिष्ठिता,
उसकी पूजा में पुजारिणी
　　बनी स्वयम् ही निवेदिता !
चढ़ी पद्मिनी देव-चरण पर
　　पीछे शत-शत सुमन चढ़े !
ज्यों सागर की ओर नदी की
　　चपल लहर पर लहर बढ़े !

उधर बढ़ी आती थी पल-पल
　　चढ़ती सबल शत्रु-सरिता,
और इधर इस रत्न-महल में
　　धधक रही थी प्रलय-चिता !
उधर गूँजता—'रत्न-महल पर
　　चढ़ो, बढ़ो अधिकार करो !'
इधर—'चिता में चढ़ जल-जलकर
　　तन-सुवर्ण को क्षार करो।'

उधर शत्रु-सेना बढ़ती थी
जैसे विध्वंसक ज्वाला !
गूँथ रही थी बालाओं को
इधर कराल ज्वाल-माला !
सुमनों से गुँथ पड़ी कण्ठ में
स्वतन्त्रता के वह माला !
उसमें स्वर्ण-सुमेरु बनी थी
वह पद्मिनी देव-बाला !

पावन जीवन के साधन में
पड़ता है, जिनको तपना,
पावन प्राणों को सकता है
केवल पावक ही अपना !
बनी ज्योति ही वीरप्रसू वह
वीरांगना, वीर-जाया !
ज्योतिर्मय स्वर से यों मानों
उसकी लपटों ने गाया—

"स्वतन्त्रता सम्पदा अतुल है,
यह जीवन है अल्प अहो!
प्राणों की आहुति देने में
क्यों संकल्प-विकल्प कहो?
स्वतन्त्रता शाश्वत वैभव है,
यह जीवन, यह जगत अचिर!
जीवन-बलि देने में फिर क्यों
नश्वर मन भय से अस्थिर?

काया को खोकर करते हैं
हम अपने यश का सर्जन!
प्राणों को खोकर करते हैं
हम अपना गौरव-अर्जन!
एक बार ही आता है यह
जीवन में मंगल अवसर,
अमर मुक्ति का वरण करें हम
भेंट करें जीवन नश्वर!

जौहर

ललनाओ ! वैरी से जब-जब
तुम लज्जा लुटती पाओ,
तब-तब इस पावन जौहर की
ज्वाला में आ जल जाओ !
स्वयम् होमकर अपनी काया
माताओ ! आदर्श बनो !
जलकर भी अपनी धूली से
वीर यहाँ आदर्श जनो !

मर जायें जो, मातृभूमि को
होने दें पददलित नहीं !
विचलित हों न विघ्न-बाधा से,
प्रलोभनों से चलित नहीं !
शत्रु आततायी के आगे
अपना शिर न झुकायें जो !
मान और मर्यादा अपनी
बेच न पाप कमायें जो !

जौहर

संघर्षण में जुट जायें ये
तन-मन-जीवन के साधन !
पर परतन्त्र न देखें पल भर
मातृभूमि को कभी नयन !
स्वर्ण-रजत की तमसा में मन
भासमान ध्रुव भानु बनें !
तृण जलाने को अनीति का
तन ये क्रूर कृशानु बनें !

मातृभूमि ! तू विदा मुझे दे
मैं लय होजाऊँ तुझमें,
मुझ जैसी ही प्रकट यहाँ मैं
और हुई पाऊँ तुझमें,
तेरी मिट्टी से उपजी मैं,
तेरे पय का पान किया !
तेरे नभ-नीचे प्राणों से
अनुप्राणित यह प्राण किया !

जौहर

तेरी आग धधकती दृग में
अमर ज्योति की किरण बनी।
मन में स्वाभिमान बन, तन में
तेज-शक्ति बनकर जननी।
हमने स्वाभिमान को लेकर
सदा अकिंचन प्राण दिये;
युग-युग तक हे देवि! हमारा
यह अक्षर अभिमान जिये।

जीवन-धन! पद्मिनी तुम्हारी
कर जौहर का अवलम्बन,
सुख से मरकर यहाँ, करेगी
वहाँ तुम्हारा मुख-दर्शन!"
अब तक था सुलतान कि जिसकी
एक झलक पर मुग्धमना!
उसी रूपनिधि को लपटों में
यहाँ जलाती थी ललना!

बढ़-बढ़कर नभ को ज्वाला की
उन लपटों ने स्पर्श किया ;
देवि, तुम्हारी दिव्य ज्योति ने
प्राणों को उत्कर्ष दिया !
उस ज्वाला के शुचि प्रकाश में
भारत ने गौरव देखा !
ज्योतिर्मय है सूर्य-किरण सी
बलि की यह उज्ज्वल रेखा !

रत्नसिंह के प्राणों ने भी
तन से महाप्रयाण किया !
झंझा के निर्मम हाथों ने
प्राण-दीप निर्वाण किया !
युद्ध-क्षेत्र है क्षात्रव्रती को
खुला स्वर्ग का द्वार सदा !
इसीलिये तो मृत्यु समर में
उसे सर्वदा है वरदा !

जौहर

बढ़ी शत्रु-सेना हिंसा के
सब संचित अरमान लिये,
लपटें बुझीं भरे जनपद को
जन से शून्य श्मशान किये।
खिली पद्मिनी थी जिस वन में
अब उसके वे फूल कहाँ?
खिला रत्न था जिन महलों में
उड़ती थी अब धूल वहाँ।

रस बरसाती भवन-भवन में
बहती थी जो स्वर-लहरी,
पदाघात पा चीख उठी अब
गहरी आह-कराहभरी।
कल था जो अपने अधरों में
वैभव की मुसकान लिये,
महल रो रहा था आँखों में
आज अकथ आख्यान लिये।

जौहर

पल-पल श्री-शोभा करती थी
लीला से शृङ्गार जहाँ,
दग्ध कथा अपनी कहते थे
अब बिखरे अंगार वहाँ!
रस भरता था विरस हृदय में
नर्तन का आनन्द जहाँ,
आज मृत्यु का कवि रचता था
करुण शोक के छन्द वहाँ!

जीवन के शत-शत दीपों में
जो नित भरती स्नेह रही,
मुट्ठी भर रज-कण की ढेरी
वह रूपों की देह रही!
उस स्वर्गिक अतीत का अंकन
करती है तू कलम वृथा!
रण-लेखक ने लिखी रक्त से
यहाँ व्यथा की अकथ कथा!

जौहर

वाणी भी जिसकी रचना में
रही सर्वदा पराजिता,
छोड़ गयी पद्मिनी आग में
लिखी हुई अपनी कविता
उस कविता का अक्षर-अक्षर
यदि मानव यह पढ़ पाये !
तो इस धरती पर ही मानव
उन देवों से बढ़ जाये !

राजमहल में घुसा कौन यह
विजय-गर्व में रे फूला ?
यहाँ कहाँ आराध्य पद्मिनी !
पथिक ! किधर तू पथ भूला ?
जिसको नयनों में भर लेने
तूने यह संहार किया !
अपना रूप छिपाने उसने
ज्वाला से शृङ्गार किया !

खोज रही छाया थी काया
तीव्र वासना की प्यासी;
सदन-सदन में रहा भटकता
तन विह्वल, मन विश्वासी!
मणि-मंडित दर्पण-दर्पण में
फेंक नयन के तारों को,
देखा उसने निज छाया में
केवल अपनी हारों को!

एक करुण मर्माहत स्वर से
फिर उसने आह्वान किया!
केवल व्यंग प्रतिध्वनि ने ही
वाणी का प्रतिदान दिया!
"पद्मिनि! पद्मिनि! किधर छिपी हो?
पल भर पुतली में आओ!
फिर चाहे सदैव को सुनयनि!
दृग से ओझल हो जाओ!"

खिलजी ने उस रत्न-महल का
    खोजा तब कोना-कोना।
किन्तु मिली न रत्न की रानी,
    आँखों में आया रोना।
और मिली तो वहाँ धधकती
    मलय-चिता के बीच मिली।
एक झलक पाते ही झुलसी
    आशा की वह कली खिली।

बरस पड़ा उस पल यवनेश्वर
    उर से करुण कराह उठी।
उसकी साँसों के तारों पर
    यह पीड़ा की आह उठी—
"छाया को भी दिखा भस्म जो
    कर देगी अपनी काया,
उसी वीरबाला की कैसे
    तू निर्बल! छू ले छाया?"

जौहर

पलकों के पावनतम जल से
अन्तर्तम का पाप धुला!
उसके जीवन में छाया जो
वह युग-युग का शाप खुला!
कलुष-जाल ले गयी जलाती
जली वहाँ पर जो होली,
अन्तस् की भीगी भाषा में
श्रद्धा अञ्जलि भर बोली—

"यही रूप है क्या वह जिसपर
मोहित थे तन-मन-जीवन!
इन्हीं रजकणों के ऊपर मैं
लुटा रहा था मणि-कञ्चन!
इस अलक्ष्य को लक्ष्य बनाता
हुई यही तो भूल अरे!
हाय, देवता के तन पर मैं
फेंक रहा था धूल, अरे!

मेरी पाप-वासना से ही
यह मानव-संहार हुआ !
मेरे मस्तक पर कलंक-सा
यह पातक का भार हुआ !
देवि ! दान दो धूल चरण की
मुझे जगत में क्षेम मिले !
दानवता यह धुले हृदय से,
मानवता का प्रेम खिले !

'यों तो इस धरती पर अगणित
बालाएँ होंगी पद्मिनि !
पर कितनी होंगी तुम जैसी
'स्वाभिमानिनी' मायाविनि !
धन्य सतीत्व तुम्हारा पद्मिनि !
यह व्रत जीवन का दीपक !"
कहकर चर्चित किया भस्म से
खिलजी ने अपना मस्तक !

उस पावन विभूति का वर पा
उसके शिर का शाप धुला!
पल भर के मंगल जल में वह
युग-युग का उत्ताप घुला!
सिहर उठी करुणा कल्याणी
देख रुद्र-नर्तन नंगा,
उमड़ पड़ी ख़िलजी के मुख से
पुण्य भावना की गंगा—

"युग-युग तक जग में अब निंदित
मेरे मन का पाप रहे!
युग-युग तक जग में अभिनन्दित
मेरा यह अनुताप रहे!
करुणा के जल से धुल-धुलकर
हो निर्मल तन-मन मेरा!
हो जाये जौहर-ज्वाला से
आलोकित जीवन मेरा!"

जौहर

युग-युग तक इतिहास लिखे यह
जौहर की पावन गाथा !
गौरव-गर्वित हो सुन-सुनकर
जिसको नारी का माथा !
और पुरुष मर-मिटकर चाहे
जीवन का बलिदान करें !
किन्तु शत्रु के आगे पल भर
वे न पराजित प्राण करें !

—८२ छन्द—

समाप्त

शब्द-कोष

संपादकः—
श्री प्रवीणचन्द्र पांडेय

(अ)

अंगारक—लाल
अंतःशीला—भीतर छिपी हुई
अंतक—यम
अक्षर-रथा—अक्षर के रथ पर बैठी हुई, नष्ट न होने वाले रथ पर बैठी हुई
अथ—आरंभ
अनय—अनीति
अनर्गल—बाधा रहित, बे-लगाम
अनुरंजिनी—प्रसन्न करने-वाली
अपर—दूसरा
अपराजिता—हार न मानने-वाली
अपवर्ग—मुक्ति, निर्वाण
अप्रमेय—जिसे नापा न जा सके, अमाप
अभियान—रण-यात्रा
अभिसार—मिलन-यात्रा
'अमरण—जो मर न सके, अमर
अर्जन—कमाना
अर्णव—समुद्र
अवगुंठन—घूँघट, परदा
अवसाद—विषाद, थकान
असत्—बुरा, पापमय

(आ)

आक्रामक—आक्रमणकारी
आक्रीड़—उद्यान, 'पार्क'
आख्यान—कथा
आड़ावला—अरावली
आपानक—पिलानेवाला, साक़ी
आप्लावित—डूबा हुआ
आमिष—मांस

(इ)

इंगित—संकेत
इलाही (अ०)—परमात्मा

इंद्रजाल—जादूगरी, माया

इश्क़ (अ०)—प्रेम

(उ)

उत्तरीय—ओढ़ने का वस्त्र, चादर

उत्ताल—ऊँचा

उत्सर्ग—दान, त्याग

उपल—पत्थर

उल्फ़त (अ०)—प्रेम

(ऊ)

ऊना—कम

(ए)

एकात्मभाव—सब आत्माएँ एक हैं, यह भाव

(क)

कर्णधार—केवट

कलापी—मोर

किंजल्क—फूल का पराग

कुंचित—टेढ़ा, वक्र

कुड्मल—कली

कृती—कुशल

कृत्या—अधर्म को नष्ट करने के लिये माया से उत्पन्न की हुई विकट शक्ति

कृशानु—आग

क्षयी—नाश होने वाला

(ख)

खर्व—भग्न, नष्ट, छोटा

(ग)

गति—दशा, चाल

गाथा—कीर्ति-कथा

गारुड़िक—सँपेरा, साँप का विष उतारनेवाला

गोमुख (गोमुखी)—गाय के मुँह जैसा बाजा

गौरवलेखा—गौरव का लेख लिखनेवाली

(घ)

घर्षण—रगड़, टक्कर

(च)

चतुरंगिणी—पैदल, घोड़ों, हाथियों और रथों वाली

चित्राधार— चित्र-फलक जिसपर चित्र बनाया जाता है

चमू—सेना

चषक—मद्य पीने का पात्र, प्याला

(छ)

छलना—धोखा

छाया—प्रतिबिम्ब, मृत्यु, भ्रम

(ज)

जंग (फा०)—लड़ाई, युद्ध

जन्नत (अ०)—स्वर्ग

जघन्य—घृणित, निकृष्ट

जाया—पत्नी

(त)

तंतुवाय—मकड़ी, बुनकर

ताला (अ०)—सर्वश्रेष्ठ

तन्वी—कोमलांगी

तिग्मांशु—सूर्य

तामस—क्रोध

तूल—कपास, रुई

(द)

दिव—स्वर्ग

दिशिहारा—दिशा भूला हुआ

दुःशासन—बुरा, अन्याय-पूर्ण शासन

दुरभिसंधि—जाल, चाल-बाजी, षड्यंत्र

दुर्विपाक—कुफल

दोज़ख (फा०)—नरक

द्युलोक—स्वर्गलोक

(न)

नरमेध—नरसंहार

नवनीत—मक्खन

निर्बन्ध—(निः+बंध) बन्धन-हीन, मुक्त

नर्तन—नाच

निर्वाण—दीपक का बुझना

निसर्ग—प्रकृति

निहित—स्थापित

नैवेद्य—देवता को चढ़ी हुई वस्तु, भोग

(प)

पंचानन—(पंच+आनन) सिंह

पणव—ढोल

परवरदिगार(फ़ा०)—पालन-कर्त्ता, परमेश्वर

परिक्रमा—चक्कर

परिरंभण—आलिंगन

परुष—कठोर

पल्लविनी—लता

पातिव्रत-परा—पातिव्रत-धर्म में परायण

पारिजात—कल्पवृक्ष

पितृव्य—चाचा

पुष्कल—विपुल

पौरुषप्रेया—पौरुष द्वारा प्यार की जाने वाली

प्रणयन—रचना

प्रणम्य—प्रणाम (वंदना) करने योग्य

प्रतिशोध—बदला

प्रत्यावर्तन—लौटना

प्रदोष—सन्ध्या

प्रशस्ति—प्रशंसा के गीत

प्राकार—परकोटा, घेरा

प्रेय—प्यार करने योग्य

प्लावन—बाढ़

(फ)

फणी—साँप

(ब)

बंदा-परवर (फ़ा०)—दीन-बन्धु

बंध—बन्धन, शृंखला

बदरंग (फ़ा०)—फीका

बुद्बुद—बुलबुला

बेलज़्ज़त (फ़ा०)—अरुचिकर

(म)

मत्सर—ईर्ष्या

मधुव्रत—भौंरा

मनीषी—बुद्धिमान्

मुक्तकेशा—खुले बालोंवाली

मृण्मय—मिट्टी का

मृत्युंजय—मृत्यु को जीतनेवाला

मोह—भ्रम, अन्धकार, प्रमाद

मौला (अ०)—स्वामी, ईश्वर

(य)

यति—विराम, रुकावट

यांत्रिक—यन्त्र चलानेवाला

या (अ०)—हे

युति—मिलन, संयोग

(र)

रत्नगर्भा—जिसमें रत्न छिपे हों

राका—पूर्णिमा की रात

राज़ (फ़ा०)—रहस्य

रुचि—शोभा

(ल)

लय—मिलन, विलीन होना, संगीत में नृत्य, गीत और वाद्य की समता, धुन

(व)

वन्दी—वन्दना करनेवाले

वात-चक्र—हवा का बगूला

विरस—रसहीन, फीका, शुष्क

विवर—बिल

वातायन—खिड़की, झरोखा
वाहिनी—सेना
विकलांग—जिसका अंग-भंग हो गया हो
विक्रांत—बलवान
वितान—मंडप
विनिमय—लेन-देन, आदान-प्रदान
विपंची—वीणा
विभावरी—तारोंभरी रात
विभ्राट—आपत्ति, उपद्रव
विभीषण—भयंकर
विभोर—मग्न
विश्रुत—प्रसिद्ध
विवर्ण—फीका, वर्णहीन
वीथी—गली
वीरप्रसू—वीरों को जन्म देनेवाली
वृंत—शाखा
वेणु—बाँसुरी
वेध—छेदना
वैजयन्ती—पताका
वैतालिक—वंदीजन, प्रशंसा गानेवाले
वैश्वानर—आग
व्यजन—पंखा

(श)

शतदल—कमल
शमा (अ०)—दिये की लौ
शमिता—शांत
शयित—सोया हुआ
शल—सेल्ह, भाला
शलभ—कीट, पतंग
शिखी—मोर
शिरा—रक्त की नस
शिविका—पालकी, डोली
शुण्ड—सूँड
श्रृंग—सींगा, एक बाजा
शोधन—खोज
शोला (अ०)—आग की लपट
श्रृंगारिक—श्रृंगार करानेवाला
श्री—शोभा, लक्ष्मी
श्रेय—कल्याणकारी
श्लथा—शिथिल

(स)

संगर—युद्ध
संधान—निशाना
संबल—पाथेय, मार्गव्यय, रास्ते का भोजन
संभूत—उत्पन्न
संसृति—संसार
सम—नृत्य, वाद्य, गीत की सम्मिलित ध्वनि
समन्वय—सम्मिलन, मेल
सुकृत—पुण्य, सुकर्म
सुवर्णमयी—सुन्दरवर्ण वाली, सोने वाली
सेनानी—सेनापति
स्तन्य—दूध
स्तर—तह, पर्दा
स्फुलिंग—चिनगारी
स्रोतस्विनी—नदी
स्वयम्भू—जो अपने आप उत्पन्न हुआ हो, विधाता
स्वर्णाभ—(स्वर्ण+आभ) सुनहरी चमक-दमकवाला

(ह)

हरम (अ०)—रनिवास, अन्तःपुर
हराम (अ०)—निषिद्ध
हेय—निन्दनीय
होता—होम करनेवाला

हमारे तीन अनुपम उपन्यास

लेखक—श्री गुरुदत्त

स्वाधीनता के पथ पर

दूसरा संस्करण सजिल्द, मूल्य ६)

पिछले पन्द्रह वर्षों तक की राजनैतिक परिस्थिति का इसे 'ऐतिहासिक उपन्यास' कहा जा सकता है।

उपन्यास में हिंसा और अहिंसा की सुन्दर विवेचना के साथ यह दर्शाया गया है कि राजनीति में प्रवेश करने का अर्थ यह नहीं है कि मानवीय शक्ति व निर्बलता की सीमा से बाहर हो जाना।

उपन्यास जितना पठनीय है उतना मनोरंजक भी।

—हिन्दुस्तान, दिल्ली।

पथिक

दूसरा संस्करण सजिल्द, मूल्य ६)

यह रचना लेखक की अपने ढंग की दूसरी पुस्तक है। यह पुस्तक हिन्दू-मुस्लिम एकता को लक्ष्य कर लिखी है, लेखक ने अपने ढंग से इस समस्या पर महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं जो कई स्थानों पर तो बहुत सुन्दर हैं। उपन्यास विचारोत्पादक है। एक ही ढर्रे के सामाजिक उपन्यासों की अपेक्षा इस प्रकार के उपन्यासों की सृष्टि और पठन हमारे लिये अधिक हितकर सिद्ध हो सकता है। —नवभारत, नागपुर।

उन्मुक्त प्रेम

प्रथम संस्करण सजिल्द, मूल्य ६)

इसमें भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के असामाजिक रूप पर प्रकाश डालते हुए मजदूरों व अन्य नागरिकों की आर्थिक व सामाजिक स्थिति सुधारने के वर्तमान उपायों पर प्रकाश डाला गया है।